

स्वामी विवेकानन्द स्रोतम्

यत्सवाव्रतमामनन्ति मुनयो बुद्धो जिनः शङ्करः।
श्रीरामः कमनीयदण्डकवने वृन्दावने माधवः॥
जाह्नव्याः सुततेषु गौडगहने गौराङ्गदेवस्तथा।
तत्सेवाव्रतमद्य साधकवरः स्वामी पुनर्घोषते॥

That path of service which was declared by the seers, Buddha, Mahavira and Shankara, by Rama in the lovely forest of Dandaka, by Krishna in Vrindavana, and by Chaitanya on the shores of the Ganga in the heart of Gauda-that same path of service has again been proclaimed by Vivekananda, the prince of sadhakas.

सेवा को जो मार्ग बुद्ध, महावीर एवं शंकर ने, भगवान राम ने दण्डकवन में, कृष्ण ने वृन्दावन में तथा चैतन्य ने गंगा के तट पर दिखलाया था-वही मार्ग साधकों में सर्वश्रेष्ठ स्वामी विवेकानन्द ने हमें दिखलाया है।

चण्डालो ब्राह्मणो वा गुरुरुत वयसा लाघवः पण्डितो वा
मूर्खो दीनो धनाढ्यः सकलगुणगणैरन्वितो निर्गुणो वा।
सर्वे नारायणास्ते वयमपि च तथा यूयमप्यत्रभूता
आत्मा नारायणोऽयं प्रचरति बहुशः सेव्यतामात्मरूप॥

Be it an outcast or a brahmin, elderly or young in age, learned or ignorant, poor or rich, possessing a wealth of virtues or bereft of them-They are all Narayana, so are we, and you who are here; this Atman, which is verily Narayana, moves about in manifold forms. Serve them, you who are the Atman!

चाहे कोई अछूत हो या ब्राह्मण, वृद्ध हो या नवयुवक, विद्वान हो या अज्ञानी, निर्धन हो, धनवान हो या गुणहीन-ये सब नारायण हैं। आप सब आत्मा हैं अतः नारायण हैं। ये आत्मायें अनेक रूपों में इस पृथ्वी पर विचरण कर रही हैं। अतः तुम इन सब की सेवा करो।

अ प नी बा त

(1)

स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गाँधी

आज सम्पूर्ण विश्व में भारत की जो गौरवशाली पहचान है उसके लिये अनेक महान देशभक्तों के बलिदान तथा उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को याद रखकर ही आगे बढ़ा जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी दो ऐसे महापुरुष हुये हैं जिनके विचारों व कार्यों की परिणति के कारण भारत आज एक महत्त्वपूर्ण देश बन सका है। पूरे विश्व में सबसे विशाल लोकतंत्र के रूप में अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता यह देश दुनिया को सत्य, अहिंसा, प्रेम व सद्भाव का संदेश देता है। स्वामी विवेकानन्द जहां इस देश के सांस्कृतिक व धार्मिक जागरण के पुरोधा बनकर उभरे तथा विश्व को हिन्दू धर्म दर्शन से अवगत कराकर पुन प्रतिष्ठित कराया वहीं महात्मा गाँधी राजनैतिक व सामाजिक जागृति के नायक बन कर देश के स्वतन्त्रता आंदोलन को नेतृत्व प्रदान कर पूरे विश्व को सत्य व अहिंसा के मार्ग पर ले गये। यद्यपि इन दोनों के विचारों को भारत पूरी तरह आत्मसात नहीं कर पाया लेकिन फिर भी आधुनिक भारत के निर्माण में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात भारतीयों की दयनीय दुर्दशा, निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञानता, जातिवाद, अंधविश्वास, सामाजिक व आर्थिक असमानता, रूढ़िवादिता जैसे अभिशापों ने इन दोनों को ही बहुत उद्वेलित कर दिया था।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 को कलकत्ता में बाबू विश्वनाथ दत्त एडवोकेट के प्रतिष्ठित व समृद्ध परिवार में हुआ जब कि महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर 1864 को गुजरात के काठियावाड़ में पोरबन्दर नामक स्थान पर कर्मचन्द गाँधी के प्रतिष्ठित व समृद्ध परिवार में हुआ। भारत में जन्मे इन दोनों महापुरुषों के जीवन में अनेक समानतायें देखने को मिलती हैं क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों ने ही इनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था। समकालीन इन विभूतियों के विचारों में कहीं कहीं भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। स्वामी विवेकानन्द की जीवन अवधि मात्र 39 वर्ष की रही जबकि महात्मागाँधी का जीवन अवधि 69 वर्ष रही। स्वामी विवेकानन्द ने इतनी अल्पायु में ही वह सब कर दिखाया जो लगभग असंभव था और जिसका प्रभाव महात्मा गाँधी पर भी पड़ा। दरिद्र नारायण की सेवा, भारत और भारतीयों का उद्धार, मानवहित तथा विश्व कल्याण की राह ऐसी है जिस पर दोनों ही आगे बढ़ते दृष्टिगोचर होते हैं।

सन् 1881 में स्वामी विवेकानन्द का मिलन स्वामी रामकृष्ण परमहंस से हुआ और स्वामी विवेकानन्द उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें गुरु मान बैठे। स्वामी रामकृष्ण ने विवेकानन्द के जीवन को एक दिशा प्रदान कर उन्हें उनके जीवन लक्ष्य से अवगत कराया तथा यहीं से स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त हुई। 16 अगस्त 1886 को रामकृष्ण परम हंस के निधन के पश्चात उनके मिशन को पूरा करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व विवेकानन्द पर आ गया। स्वामी विवेकानन्द प्रथम बार 1888 में भारत भ्रमण के लिये निकले तथा दूसरी बार 1891 में भारत भ्रमण किया। उस वक्त सीमित साधन व दुर्गम आवागमन की राहें भी स्वामी का मार्ग न रोक सकी। अनेक परेशानियों को उठाते हुये स्वामी विवेकानन्द ने जहां भारत की विशाल सांस्कृतिक एकता, भौगोलिक विस्तार, उन्नत परम्परायें, नैसर्गिक प्राकृति सौन्दर्य व प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों को देखा वही भारतीयों की निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञानता, निराशा, जातिवाद, अंधविश्वास, निर्मलता, सामाजिक असमानता व रूढ़िवादिता ने उन्हें द्रवित और दुखित किया। स्वामी विवेकानन्द अपने विद्यार्थी काल में बड़े ही मेधावी जिद्दी व नटखट रहे थे। बिना प्रमाण वे कोई बात स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक पश्चिमी विद्वानों को पढ़ा जिनमें मिल, स्पेन्सर, शैली, वर्ड्सवर्थ आदि मुख्य थे। वे मन ही मन भारत की निर्धनता व दयनीय स्थिति की तुलना पश्चिम से करते और उसे दूर करने के लिये मन ही मन सोचते रहते। तब उन्होंने एक योजना बनाई कि पश्चिमी देशों की यात्रा करके भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति में सुधार करें और भारत के धार्मिक व आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार कर विश्व का कल्याण करें। उनका विचार था कि मानव और विश्व का कल्याण तभी संभव है जब भारत पश्चिम की तरह समृद्ध और पश्चिम भारत की तरह शांत हो जाय। सैद्धान्तिक और वैचारिक स्तर पर यह विनियम भले ही सुन्दर व संभव लगता था किन्तु व्यवहारिक रूप से यह आज तक भी नहीं हो पाया। भारत के पश्चिम से विज्ञान और तकनीक का आयात तो किया किन्तु पश्चिम ने भारत के अध्यात्मिक व धार्मिक संदेशों को कभी ग्रहण नहीं किया। स्वामी विवेकानन्द की पश्चिम के बारे में जो धारणाएँ थी वे पूरी तरह मिथ्या निकली तथा शिकागो यात्रा के बाद ही खण्डित हो गई थी। वे दो बार विश्व भ्रमण पर निकले थे। जहां वे पूरे विश्व को हिन्दू धर्म का संदेश देकर विफल रहे थे। वे हर संभव प्रयत्न करने के बाद भी भारत के लिये 30 करोड़ रुपये एकत्र नहीं कर पाये थे। स्वामी जी का मन खिन्न और पश्चिम के प्रति मोह पूरी तरह भंग हो चुका था। यह स्वामी विवेकानन्द के अदृश्य साहस व देश के प्रति लगाव ही था जो उन्होंने आजीवन अविवाहित रहकर, अभावों में जीवन जी कर भारतीयों के उत्थान तथा भारतीय संस्कृति व धर्म के प्रचार प्रसार के लिये 600 वर्षों बाद सीमित साधनों से सात समुद्र पार जाकर विश्व धर्म-सभा को सम्बोधित किया।

महात्मा गांधी 1888 में प्रथम बार इंग्लैण्ड वकालत करने गये तथा 1891 में भारत वापिस आ गये तथा 1893 में दक्षिण अफ्रीका गये तथा 1901 में पुनः भारत आ गये तथा 1902 से 1915 तक गांधी जी पुनः दक्षिण अफ्रीका में ही रहे। इस प्रकार गांधीजी ने 25 वर्ष का समय इंग्लैण्ड व दक्षिण अफ्रीका में गुजारा। उन्होंने वहां पर पश्चिम का रंगभेदी, जातिभेदी, क्रूर और बर्बर चेहरा देखा जिसकी गांधी ने पूरी ताकत के साथ आलोचना की है। 25 वर्षों से अपने साथ हुये निर्मम अत्याचार व अपमान ने मोहनदास को महात्मा गांधी बनने की ओर उन्मुख कर दिया था। गांधी मानते थे कि भारत का उद्धार भारत को ही करना होगा। दक्षिण अफ्रीका में रहकर गांधी बिना विचलित हुये वहां सभी अत्याचारों को सहते हुये भारतीयों की लड़ाई लड़ते रहे। गांधी प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाश्चात्य सभ्यता के मुखर आलोचक रहे। अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

(2)

सन् 1893 में जिस समय स्वामी विवेकानन्द अमेरिका की धर्म संसद में अपने प्रभावपूर्ण ओजस्वी व्याख्यान से पूरे विश्व को चमत्कृत कर प्रसिद्धी का वरण कर रहे थे और एक युगपुरुष सन्यासी भारत का मस्तक गौरव से विश्व के सम्मुख चमक रहा था उसी समय गांधी दक्षिण अफ्रीका में रहकर भारतीयों के अधिकारों के लिये लड़ रहे थे। विवेकानन्द की यह प्रथम विदेश यात्रा थी जबकि महात्मा गांधी की दूसरी। दोनों के पश्चिमी प्रवास के उद्देश्य व अनुभव पृथक पृथक थे। विवेकानन्द भारतीय धर्म के प्रचार तथा भारतीयों की आर्थिक स्थिति सुधारने के उद्देश्यों से विदेश गये जबकि महात्मा गांधी अपनी शिक्षा पूरी करने तथा जीविकोपार्जन हेतु गए। दोनों में मूलभूत अन्तर यह था कि गांधी कभी पश्चिम से प्रभावित नहीं हुये जब कि विवेकानन्द प्रारम्भ में पश्चिम से प्रभावित होकर धर्म और विज्ञान के समन्वय तथा पूरब और पश्चिम को साथ लाने के पक्षधर रहे।

महात्मा गांधी पाश्चात्य संस्कृति और मशीनों पर आधारित संस्कृति के खोखले विकास और कमियों को भली भाँति जानते थे इसलिये वे मानवीय एकता, भारतीय संस्कृति, अहिंसा अध्यात्मवाद, सत्य और अहिंसा पर आधारित सामाजिक संरचना के पक्षधर थे जबकि विवेकानन्द समस्त मानव जाति की एकता और पाश्चात्य और प्राच्य संस्कृति के मध्य सेतु की तरह दोनों संस्कृतियों की आंतरिक एकता पर बल देते थे।

वर्तमान भारत को एक महात्मा और एक सन्यासी के सपनों का भारत बनाने का उत्तरदायित्व आज की पीढ़ी का है जिन्हें 50 वर्षों से भारत विकास परिषद् अपना आदर्श मानते हुये साकार करने को सतत् प्रयत्नशील है। आएँ कदम से कदम मिलाकर एक दूजे के हाथ थाम कर भारत के विकास के पथ पर हम राही बनकर चलें।

- किशोर अग्रवाल

Longevity, Activity, Creativity

Swami Vivekanand stayed on this earth for quite a short period, 39 years 5 months and some days to be precise. In this short span of life he traversed India from one end to the other four times and undertook tours of America, England, Europe and some other countries twice. His journeys within India were made at a time when railway trains were very few and even road transport was scarce and reaching America took more than two months. Apart from these journeys he penned a number of articles and poems which have been collected in nine volumes containing more than 500 pages each, started two journals and founded Ramakrishna Mission. A super human task really.

Swami took mahasmadhi in 1902. From the census records of 1901 we find that the average age of an Indian at that time was 32 years. But things have changed now. The 2011 figures tell that the average age of the Indian citizen has doubled in a century. It is more than 65 years now. Even 50-60 years back a person aged 70 to 75 years was a rarity. But now you can find these grand old gentlemen everywhere. Perhaps active and creative persons of those times found too little time to complete their work. On the other hand people in the 21st Century the elders have too much time on their hands and are at a loss to know what activity to undertake and how to spend their time. If at all they find something to do, it is very difficult for them to remain creative. The task is more difficult for those who retire from some salaried job because their retirement period may be almost equal to their working period.

Before finding a solution to the problem how to remain creative in old age let us first find out what is creativity. To be creative means to be original and of high quality. Creativity is producing something of value. Creativity is producing some-

thing of value. Creativity happens when we are in a curious, receptive and in an open state of mind. It happens when we extend our boundaries and venture into something bigger than ourselves.

Very often we think that creativity is limited to artists, authors, poets etc. But this is a mistake. There is a multitude of ways to be creative in our lives. It may be painting, writing, making our home more beautiful, doing something for the poor and underprivileged, taking part in public life etc. Creativity and its many forms are boundless. Actually Creativity is a skill of brains which has three primary steps:

1. **Imagination** - The first step in creativity is to imagine. This initial step is about letting your imagination go wild and dreaming up as many ideas as you can.
1. **Review** - The second step in creativity is to review or criticise the ideas imagined in the first step. You can discuss the ideas with friends and get feedback from different people. But this may not be necessary in all the cases. If you want to make a painting or a poem there is no sense in discussing it with others.
1. **Enactment** - The third step is to put an idea into practice. Creativity is more than just using your imagination. Enacting an idea into a valuable product or creation requires hard work, discipline and fortitude.

Creativity in Seniors and its Benefits -

India and many other countries of the world are facing a revolution which may be called longevity revolution. America, Canada, England, Europe, Japan, China and India are facing the problem of increasing average life span. It is a good sign that we are getting the blessing we wished for Jivam Shardah Shatam. But most of the governments are becoming overburdened by the 'Seniors care programmes and the seniors themselves are feeling bored and leading a dull and monotonous

life.

When addressing the longevity problem of our elders, we must look at more than the immediate needs of food, shelter, finance and physical health. They require a much more healthy, rounded and fulfilling life. Their emotional and spiritual well-being should also be taken care of. But government and society alone cannot accomplish this task. The elders themselves will have to make efforts to make this phase of their life a happy one. And here role of activity and creativity comes into play.

An American doctor Gene D. Cohen M.D. Ph.D made a 25 years study on creativity and reined in more than 200 senior citizens. About the relationship between health and creativity Dr. Cohen says, expressing ourselves creatively can actually improve health, both mentally and physically. Creativity is a natural, vibrant force throughout our lives-a catalyst for growth, excitement for leading a meaningful life."

Dr. Cohen also made some other key points regarding the importance of creativity for wellness. They are :

- | Creativity reinforces essential connections between brain cells, including those responsible for memory.
- | Creativity strengthens morale. It alters the way we respond to problems and sometimes allows us to transcend them. Keeping a fresh perspective makes us emotionally resilient.
- | Challenging the brain can relieve sleep and mood disorders.
- | Reading writing and word games increase one's working vocabulary and help to fend off forgetfulness.
- | Capitalizing on creativity promotes a positive outlook and sense of well-being. That boosts the immune system, which fights disease.

- | Having an active, creative life makes it easier to face adversity including the loss of a spouse.

Recent discoveries have radically changed conventional assumptions about the aging brain. It is true that the brain loses brain cells throughout life, but it is not the number of cells that determines intellectual capacity, but rather the connections between them. These connections grow and develop when the brain is exposed to rich and stimulating environment. In the presence of stimulation and absence of disease, a person's intelligence grows with each passing day. The old maxim use it or lose it is still true.

The Traps of Elderhood

As the age increases we become less creative. But this decline is not due to advancing years. Some other factors are responsible for it.

(4)

- | One of the biggest culprits is the simple pattern of human habit. Once we start doing something in one way, we get comfortable with it and don't want to change it.
- | Fewer of us continue to study and fewer still study new books or topics. Our conversations get stuck to the familiar subjects.
- | Those of us who do study topics particular and become experts can easily fall into the expert trap.
- | Some others also easily fall into the expert trap. Self employed persons like law and medical practitioners and expert managers are so busy with their jobs that they rarely get a chance to keep outside and remain confined to their circle throughout the life.
- | People in mechanical and specialised jobs like railways lose all interest in the outside world and talk and think of their profession even after retirement.

Staying Creative - Creativity is what separates human from all other species. Its seeds stem from thought with a gentle mixture of talent, inspiration, experience and desire. It brings beauty in advance age and makes seniors moments wonderful moments.

The secret of life is staying creative. And the best way to remain creative is to do different things. Read different books and papers.

Creativity even effects longevity. It has been proved that people who stay mentally active live longer even than those who stay physically active.

Mere activity is something different from creativity. You may repeat the same activity in the same way for years. It is not creativity. Creativity is doing something new original and doing it in a different way.

People who stay creative through their lives are way above others, not only people in the last phase of life, but also those who are much younger than them. With practice and determination a 70 year old can be better at creativity than a stupidified 40 years old.

In the beginning of this article, I mentioned the name of Swami Vivekananda who accomplished the tremendous tasks forty years. On the other hand Mahatma Gandhi lived a fairly long life of more than 78 years. Gandhi Ji remained creative throughout his life. He made new experiments in diverse fields like politics, freedom movement, education, diet, health etc. He always treaded a new path and put his innovative ideas into practice.

Like other fields he is role model in the field of creativity as well.



हमारे आदर्श पुरुष—स्वामी विवेकानन्द

- सुरेन्द्र कुमार वधवा, राष्ट्रीय महामंत्री

ज्ञान प्रभा का यह अंक स्वामी विवेकानन्द को समर्पित है। स्वामी जी का जन्म 12 जनवरी 1863 को हुआ था, अतः 12 जनवरी 2012 से 12 जनवरी 2013 तक की एक वर्ष की अवधि को परिषद ने उनकी 160 वीं जयन्ती वर्ष के रूप में मनाया। यह संयोग की बात है कि भारत विकास परिषद की स्थापना स्वामी जी के जन्म शताब्दी वर्ष 1963 में हुई थी। परिषद के संस्थापकों ने प्रारम्भ से ही स्वामी जी को अपना आदर्श माना।

(5)

स्वामी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे एक प्रखर वक्ता, लेखक, कवि, नेतृत्व के गुणों से परिपूर्ण संगठन कर्ता, कर्ममय सन्यासी, योगी, दार्शनिक, अध्यात्मिक पुरुष एवं सेवा को समर्पित व्यक्तित्व के स्वामी थे। परिषद संस्कार एवं सेवा को समर्पित प्रबुद्ध देशभक्त नागरिकों का एक सामाजिक संगठन है। परिषद ने स्वामी जी के आदर्शों एवं विचारों को व्यवहारिक रूप देने के लिए अनेक कार्यक्रम चलाये हैं। यह उचित होगा कि स्वामी जी के 150 वें जयन्ती के समापन के इस अवसर पर उन आदर्शों तथा परिषद् द्वारा उन्हें व्यवहारिक रूप देने के लिए किये जा रहे प्रयासों का पुनः स्मरण कर लिया जाये।

पुण्य भूमि भारत : स्वामी जी भारत को पुण्य भूमि मानते थे। उनका विचार था कि भारत ने अध्यात्म, शान्ति एवं उदारता के क्षेत्रों में उन्नति के शिखरों को छुआ है।

परिषद् ने नवयुवकों में अपने देश के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा जागृत करने के लिये अनेक प्रकल्प चलाये हैं। सर्वप्रथम 1967 में राष्ट्रीय समूह गान प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसमें छठी कक्षा से 12वीं कक्षा तक के छात्र-छात्राएँ भाग लेते हैं।

भारत को जानो प्रतियोगिता भी इसी उद्देश्य से सन् 2001 से राष्ट्रीय स्तर पर आरम्भ की गई है। इसमें लिखित तथा मौखिक दोनों प्रकार की परीक्षा होती है तथा भारत के इतिहास, धर्म, संस्कृति, साहित्य इत्यादि से संबंधित लिखित तथा मौखिक प्रश्न पूछे जाते हैं।

मानव सेवा : स्वामी जी के जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य मानव सेवा था। उनका कथन था कि जब तक इस देश के लाखों करोड़ों व्यक्ति निरक्षर हैं, अभाव, भूख एवं रोगों से पीड़ित हैं एवं तिरस्कृत जीवन व्यतीत कर रहे हैं तब तक इस देश के समृद्ध एवं शिक्षित लोगों को चैन से नहीं बैठना चाहिये।

सेवा परिषद् के पांच मूल मंत्रों में से एक मंत्र है। सेवा के अन्तर्गत विकलांग सहायता योजना, ग्राम विकास योजना, स्वास्थ्य योजना, सामूहिक सरल विवाह, वनवासी सहायता योजना आदि प्रकल्प चल रहे हैं।

संगठन की आवश्यकता : प्रारम्भ से ही स्वामी जी की यह स्पष्ट धारणा बन चुकी थी कि शिक्षा के प्रसार, निर्धनों की सहायता एवं महिलाओं के उत्थान का कार्य एक कुशल एवं सक्षम संगठन के बिना नहीं हो सकेगा। इस संगठन के आधार स्तंभ निष्ठावान एवं कर्मठ कार्यकर्ता ही हो सकते हैं। ये कार्यकर्ता एक ऐसे तंत्र का निर्माण कर सकेंगे जिससे आध्यात्मिकता का संदेश एवं भौतिक सहायता प्रत्येक निर्धन के द्वार तक पहुंचेगी। इसी उद्देश्य से उन्होंने राम कृष्ण मिशन की स्थापना की थी।

परिषद् के संस्थापकों ने प्रारम्भ से ऐसे ही एक संगठन की स्थापना का प्रयास किया। यही कारण है कि 50 वर्षों में एक शाखा से 1200 शाखाओं का विस्तार हुआ एवं आरम्भिक 25 सदस्य बढ़कर 50000 परिवार परिषद् से जुड़ गये हैं। यह समस्त कार्य एक विधान के अनुसार सुचारू रूप से चल रहा है।

प्रबुद्ध एवं समृद्ध वर्ग का जनसाधारण के प्रति उपेक्षा भाव : कश्मीर से कन्याकुमारी तक के भारत भ्रमण में स्वामी जी ने देखा कि भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित, अज्ञानता से परिपूर्ण एवं छुआ-छूत तथा जात-पात के बन्धनों में जकड़ी हुई है। उनकी वास्तविक आवश्यकता भोजन, शिक्षा एवं चिकित्सा सहायता की है। अध्यात्म एवं धर्म से पहले उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हमारा सर्वोच्च कर्तव्य होना चाहिये। सबसे बड़े दुख की बात यह थी कि समाज का प्रबुद्ध, समृद्ध एवं शिक्षित वर्ग भारत की इस पीड़ित जनता के प्रति उपेक्षा का भाव रखता था, उनके दुःखों के प्रति लापरवाह था तथा आत्मकेन्द्रित था।

परिषद् के संस्थापकों ने भी 20वीं शताब्दी में समाज के समृद्ध एवं प्रबुद्ध वर्ग को इसी व्याधि से पीड़ित पाया। वे लोग भी आत्मकेन्द्रित थे एवं अपने चारों ओर निवास कर रहे भारत के दीन दुखी वर्ग से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। अतः प्रारम्भ से ही परिषद् के संस्थापकों का यह मिशन था कि समाज के इस प्रबुद्ध वर्ग में चेतना जागृत की जाये, उन्हें संगठित किया जाये तथा भारत की पीड़ित जनता के उत्थान

के कार्यक्रम में उन्हें प्रवृत्त किया जाये। साथ ही यह भी ध्यान रखा गया कि यह कार्य किसी श्रेष्ठता अथवा दान की भावना से न करके इसे भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुसार पावन कर्तव्य की भावना से किया जाये।

प्रत्येक व्यक्ति में देवत्व का निवास है : स्वामी जी ने एक नया विचार Potential Divinity of Soul विश्व को दिया था। उनका विचार था कि विज्ञान ने मानव को बहुत कुछ दिया है किन्तु साथ ही ऐसा वातावरण भी उत्पन्न किया है जिससे मनुष्य पतन की ओर जा रहा है। बढ़ते अपराध, टूटते हुए घर एवं अनैतिकता इसी ओर संकेत करते हैं। पवित्र वातावरण मिलने से मानव फिर से देवत्व प्राप्त कर सकता है। परिषद् का संस्कार सूत्र इसी विचार पर आधारित है। संस्कार का अर्थ है दुर्गणों का उच्छेदन एवं सद्गुणों का अधिष्ठापन है। संस्कार पूर्ण सद् वातावरण मिलने से मनुष्य देवत्व की ओर अग्रसर हो जाता है। संस्कार उसके प्रच्छन्न देवत्व को प्रकाश में लाते हैं।

(6)

महिला सशक्तिकरण के लिये संदेश : स्वामी जी ने भारतीय महिलाओं के लिये मातृत्व को सर्वोच्च आदर्श माना था। मां के रूप में नारी सर्वोत्कृष्ट, निस्वार्थ, कष्टों को सहन करने वाली एवं क्षमाशील बन जाती है। वे माता सीता को भारतीय नारी का मूर्त रूप मानते थे। उनके अनुसार महिलाओं को उच्चतम शिक्षा दी जानी चाहिए, उनसे आदर पूर्ण तथा समानता का व्यवहार होना चाहिये एवं उन्हें प्रत्येक प्रकार की जिम्मेदारी सम्भालने के योग्य बनाया जाना चाहिए।

परिषद् ने अपनी स्थापना के समय से ही प्रत्येक स्तर पर महिला सहभागिता पर जोर दिया है। यह एक मात्र ऐसी संस्था है जहां पति पत्नी दोनों को ही सदस्य माना जाता है एवं दोनों को ही मताधिकार भी है। वे प्रत्येक पद के लिये सक्षम हैं एवं वर्तमान समय में शाखा, प्रान्त, क्षेत्र एवं केन्द्र के स्तरों पर महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर रही हैं।

युवा शक्ति को प्रोत्साहन : स्वामी जी युवकों को सदैव प्रोत्साहित करते थे। मद्रास एवं कलकत्ता में दिये गये उनके भाषण युवाओं के प्रेरणा स्रोत हैं। भारत विकास परिषद् ने भी सदैव नवयुवकों को संस्कार एवं सेवा के गान प्रतियोगिता, भारत को जाने, गुरु वन्दन-छात्र अभिनन्दन इत्यादि प्रकल्पों के माध्यम से लाखों किशोर एवं युवक परिषद् के सम्पर्क में आते हैं। उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों के छात्रों के लिये सेमिनारों का आयोजन प्रारम्भ किया गया है।

स्वामी जी के इस जयन्ती वर्ष में परिषद् ने सम्पूर्ण वर्ष में अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया है। उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :-

1. परिषद् की शाखाओं ने विभिन्न स्थानों पर स्वामी जी के जीवन, उनके विचारों तथा सिद्धान्तों के विषय में गोष्ठियां, सेमिनार, भाषण प्रतियोगिताएं इत्यादि आयोजित की हैं।
2. अनेक स्थानों पर स्वामी जी के चित्रों तथा उनके द्वारा स्थापित विभिन्न मठों एवं आश्रमों तथा विदेशों में कार्य कर रहे संस्थानों के चित्रों की प्रदर्शनियां लगाई गईं।
3. अनेक स्थलों पर प्रभात फेरियां निकाली गईं तथा हजारों नागरिकों के सहयोग से मानव श्रृंखलाएं स्थापित की गईं।
4. केन्द्रीय कार्यालय पीतमपुरा दिल्ली तथा मंसूरी (उत्तराखण्ड) में स्वामी जी की आदमकद मूर्तियां स्थापित की गईं।
5. महाराष्ट्र (कोस्टल)-1 प्रान्त द्वारा 118 निर्धन कन्याओं का सामूहिक विवाह कराया गया जिसका समस्त व्यय परिषद् ने वहन किया।
6. विभिन्न शाखाओं ने सूचित किया है कि उनके द्वारा इस वर्ष में लगभग 6000 विद्यार्थियों को पुस्तकें, स्टेशनरी, यूनिफार्म आदि का वितरण किया गया।
7. कुछ शाखाओं ने रक्तदान शिविर आयोजित किए तथा बड़ी संख्या में वृक्षारोपण किया।



किसे दोष दूं ?

— स्वामी विवेकानन्द

(16 मई 1895 को न्यूयार्क में रचित कविता का अनुवाद)

सूरज ढलता,
रक्तिम किरणों-
दम तोड़ते दिवस की देह लपेट चुकी हैं,
चौंकी हुई दृष्टि से देख रहा मैं पीछे,
गिनता हूं अब तक की सब उपलब्धियां,
किन्तु, मुझे लज्जा आती है,
और किसी का नहीं, दोष तो मेरा ही है।

मैं बनता या मिटाता प्रतिदिन अपना जीवन
भले-बुरे कर्मों का वैसा फल मिलता है।
भला, बुरा, जैसा बन गया, बन गया जीवन,
रोके और संभाले से भी
रुके न संभले कोई भी कितना सर मारे
और किसी का नहीं, दोष तो मेरा ही है।

मैं ही तो अपना साकार अतीत हूं,
जिसमें बड़े बड़े आयोजन कर डाले थे,
वे संकल्प, धारणाएं वे
जिनके ही अनुरूप ढल गया है यह जीवन,
वही, ढांचा है जिसका,
और किसी का नहीं, दोष तो मेरा ही है।

प्यार का प्रतिफल मिला प्यार ही केवल
और घृणा से अपनी घृणा भयानक,
जिनकी सीमाओं से घिरा हुआ है जीवन,
और मरण भी,
प्यार-घृणा इस तरह बांधते
किसे दोष दूं जब कि स्वयं ही मैं दोषी हूं।

(7)

त्याग रहा हूँ मैं भय
 और व्यर्थ के सब पछतावे,
 प्रबल वेग मेरे कर्मों का प्रवहमान है,
 सुख-दुःख, निन्दा और प्रतारण,
 यशोकीर्ति के प्रेत खड़े हैं मेरे सम्मुख,
 किसे दोष दूँ जब कि स्वयं मैं ही दोषी हूँ।

सभी शुभ-अशुभ, प्यार-घृणा, सुख-दुःख को बांधे
 जीवन सब दिन अपनी राह चला जाता है,
 मैं उस सुख के स्वप्न देखता
 जिस पर दुःख की पड़े न छाया,
 किन्तु कभी हाँ, कभी नहीं हो सके सत्य वे,
 किसे दोष दूँ, जब कि स्वयं ही मैं दोषी हूँ।

छूटी घृणा, प्यार भी छूटा
 और पिपासा भी जीवन की शान्त हो गयी,
 शाश्वत मरण, अभीष्ट रहा जो, वही सामने,
 जीवन की ज्वाला, जैसे, निर्वाण पा गयी,
 कोई ऐसा शेष नहीं है, जिसे दोष दूँ।

एकमात्र मानव, परमेश्वर एकमात्र, सम्पूर्ण आत्मा,
 परम ज्ञानी वह जिसने
 उपहास किया उन राहों का,
 जो भटकातीं, पतित बनातीं, अधियारी हैं,
 एकमात्र सम्पूर्ण मनुज वह,
 जिसने सोचा-समझा चरम लक्ष्य जीवन का,
 पथ दिखलाया,
 मृत्यु एक अभिशाप, और यह जीवन भी तो ऐसा ही है,
 सबसे उत्तम-
 जन्म-मरण का बन्धन छूटे।
 ॐ नमो भगवते सम्बुद्धाय,
 ॐ नमः प्रभु ! चिर संबुद्ध !



कमजोर बनाने वाली शिक्षा नहीं

- स्वामी विवेकानंद

(8)

मुझे द्वैतवाद के विभिन्न रूपों से कोई आपत्ति नहीं है। मैं उनमें से अधिकांश को पसन्द करता हूँ। लेकिन मुझे शिक्षण का कोई भी ऐसा तरीका स्वीकार्य नहीं है जो शिक्षा प्राप्त करने वाले को कमजोर बनाता है। मैं हर आदमी, महिला और बच्चे से, जब वे भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे होते हैं, यह सवाल पूछता हूँ। क्या आप मजबूत हो? क्या आपको अपनी शक्ति का आभास होता है? क्योंकि मैं जानता हूँ केवल सच्चाई बल प्रदान करती है। मैं यह भी जानता हूँ कि केवल सच्चाई जीवन प्रदान करती है, और केवल वास्तविकता की ओर बढ़कर हम मजबूत हो सकते हैं और तब तक कोई सत्य तक नहीं पहुँच सकता जब तक कि वह मजबूत न हो। इसलिए प्रत्येक व्यवस्था जो हमारे दिमाग को कमजोर करती है, हमें अंधविश्वासी बनाती है, हमें हतोत्साहित अथवा उदास करती है, असंभव इच्छाओं, रहस्यों और अंधविश्वास को जन्म देती है, मैं पसंद नहीं करता हूँ क्योंकि इनका प्रभाव खतरनाक होता है। इस तरह की व्यवस्थाएँ कोई भला नहीं करती; इस तरह की बातें दिमाग में रुग्णता पैदा करती हैं, उसे कमजोर बनाती हैं, इतना कमजोर बना देती हैं कि कुछ समय पश्चात सत्य को ग्रहण करना और उसके सहारे रहना असंभव हो जाता है।

आत्म निर्भरता : अगर लोगों को अपनी मदद स्वयं करना नहीं सिखाया जाएगा तो दुनिया की समस्त दौलत भी भारत के एक छोटे गांव की सहायता नहीं कर सकती। हमारा मुख्य कार्य नैतिक और बौद्धिक शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए, ..लोगों को शिक्षित कीजिए, ताकि वे आत्मनिर्भर, मितव्ययी होना सीखें।

वर्तमान व्यवस्था की कमियाँ :-वर्तमान विश्वविद्यालय व्यवस्था पूरी तरह दोषों से भरी है। क्यों? यह क्लर्कों की फौज तैयार करने के अलावा और कुछ नहीं करती। अगर केवल ऐसा होता तो विशेष चिन्ता, दुख का विषय नहीं था। लेकिन नहीं। देखिए इसमें पढ़कर लोग श्रद्धा और विश्वास को खो रहे हैं। वे दावा करते हैं कि गीता केवल एक क्षेपक है और वेद देहाती गीत हैं। वे भारत के बाहर की प्रत्येक वस्तु और राष्ट्र के बारे में विस्तार से जानना चाहते हैं और उन विषयों में विशेषज्ञ होना चाहते हैं। लेकिन अगर आप उनसे पूछें तो उन्हें सात पीढ़ी तक अपने पूर्वजों के नाम भी नहीं मालूम, चौदह की बात तो जाने ही दीजिए!...अगर किसी देश का

स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग

— आर० के० श्रीवास्तव

अपना इतिहास नहीं है तो विश्व में उसका कुछ भी नहीं है। अगर कोई व्यक्ति विश्वास और गर्व के साथ कहता है मैं अभिजात वंशज हूँ तो क्या आप विश्वास करेंगे कि वह गलत कह रहा होगा। ऐसा कैसे संभव है? उसका स्वयं पर विश्वास उसकी कार्यवाहियों और भावनाओं पर नियंत्रण करेगा कोई गलत काम करने से पहले वह मर जाना पसन्द करेगा। अतः राष्ट्र का इतिहास किसी देश को उचित सीमा में रखता है और उसे पतन के मार्ग में आगे जाने से रोकता है। हमें वाइसराय का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने विश्वविद्यालय व्यवस्था में सुधार लाने का प्रस्ताव किया है....। ग्रेजुएट होने के लिए इतना हल्ला-गुल्ला क्यों? कुछ ही दिनों बाद सभी कुछ शान्त हो जाएगा। और ग्रेजुएशन के बाद वे क्या सीखते हैं। हमारा धर्म और रीति-रिवाज बुरे हैं और पश्चिमी देशों का धर्म और रीति रिवाज अच्छे हैं। अन्ततः भूख और गरीबी बड़ी समस्या है। यह शिक्षा रहती है या समाप्त कर दी जाती है, इससे क्या फर्क पड़ता है। बेहतर यह होगा कि लोग कुछ तकनीकी शिक्षा प्राप्त करें ताकि शाम सवेरे नौकरी की मांग करने और रट लगाने के अलावा उन्हें कोई काम मिल सकें और वे अपनी गुजर बसर कर सकें।

इस समय आप जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं उसमें कुछ अच्छी बातें हैं लेकिन इसमें अत्यंत बुरी बातें भी हैं और वे इतनी अधिक हैं कि उनके बोझ के नीचे अच्छी बातें दब जाती हैं।

पहली बात यह है कि यह मनुष्य को बनाने वाली शिक्षा नहीं है। यह केवल पूरी तौर पर नकारात्मक शिक्षा है। नकारात्मक शिक्षा अथवा कोई प्रशिक्षण जो नकारात्मकता पर आधारित हो, मौत से भी बुरा है। बच्चे को स्कूल ले जाया जाता है और पहली बात वह जो सीखता है वह यह है कि उसके पिता मूर्ख हैं। दूसरी बात, जो वह सीखता है, वह यह है कि उसके दादा पागल थे, तीसरी बात, यह कि उसके अध्यापक पाखंडी हैं और चौथी बात यह कि सभी धार्मिक ग्रंथ निर्जीव और आस्थाहीन झूठ से भरे हैं। सोलह वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते वह नकार पुंज में बदल जाता है और नतीजा यह हुआ है कि पचास वर्षों की ऐसी शिक्षा के बावजूद मुंबई मद्रास और कलकत्ता ने एक भी मूल विचारों वाला व्यक्ति पैदा नहीं किया है। मूल विचारों का हर व्यक्ति इस देश में नहीं अन्यत्र शिक्षित हुआ है।

शिक्षा लोगों की गरीबी समाप्त कर सकती है। यूरोप के अनेक नगरों की यात्रा करते हुए मैंने देखा कि वहां के गरीब भी शिक्षित हैं और सुख-आराम से रह रहे

(शेष पृष्ठ 31 पर)

स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग गीता के कर्मयोग के सिद्धान्त पर ही आधारित है। दोनों का अंतिम लक्ष्य जीवन-मृत्यु के बन्धन से आत्मा की मुक्ति एवं ईश्वर की प्राप्ति है। गीता के कर्मयोग में इसकी आवश्यकता एवं महत्ता पर जोर दिया गया है जबकि स्वामी जी ने उसका मार्ग सुझाया है। स्वामी जी के कर्मयोग को समझने के लिए पहले गीता के कर्मयोग को समझना होगा।

गीता में भगवान ने कहा है कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। यह कर्म शारीरिक, वाचिक अथवा मानसिक कोई भी हो सकता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य को कैसे कार्य करने चाहिए एवं उनका उद्देश्य क्या हो। इसका उत्तर हमें गीता अध्याय दो के उन्तालिसवें से तिरपनवें श्लोक में मिलता है। इनमें कर्मयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में सैतालिसवा श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो इस प्रकार से है।

(9)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्भा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोक के चार चरणों में चार बातें आई हैं:-1) मनुष्य के अधिकार में केवल कर्म करना 2) कर्म के फल में उसका कोई नियंत्रण नहीं है। 3) मनुष्य को कर्मफल का हेतु नहीं बनना चाहिये और 4) कर्म न करने में भी उसकी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। इसके पहले और चौथे चरण की बात एक है तथा दूसरे और तीसरे चरण की बात एक है। पहले चरण में कर्म करने में अधिकार बताया गया है और चौथे चरण में कहा गया है कि कर्म न करने में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। दूसरे चरण में फल की इच्छा का निषेध किया गया है और तीसरे चरण में फल का हेतु बनने का निषेध किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी प्रायः मनुष्य के द्वारा किसी का उपकार हो जाता है या किसी को सुख पहुंचता है। ऐसे में यह भाव आता है कि यह उपकार मेरे द्वारा हुआ है। ऐसे भाव को कर्मफल हेतु बनना कहते हैं। अतः ऐसे भाव नहीं आने चाहिए। इसके अतिरिक्त कर्म न करने की इच्छा होने पर प्रमाद, आलस्य, आदि तामसी वृत्ति के साथ सम्बन्ध होता है। कर्म एवं कर्मफल के साथ सम्बन्ध होने पर राजसी वृत्ति के साथ सम्बन्ध होता है। इन दोनों से सम्बन्ध न रहने पर भी एक प्रकार का विवेकजन्य सुख होता है जो सात्त्विकी वृत्ति के साथ सम्बन्ध बनने का कारण बनता है। इन तीनों

प्रकार की वृत्तियों से सम्बन्ध होने से ही मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन में बंधता है।

गीता के कर्मयोग में योग का तात्पर्य समता से है। कर्म का फल कभी अच्छा होता है, कभी बुरा होता है। कभी मनुष्य को अपने कर्म से सफलता प्राप्त होती है तो कभी वह असफलता है। इसके परिणाम स्वरूप वह कभी आनन्दित होता है, कभी दुःखी इन दोनों ही स्थिति में उसे सम रहना चाहिए। उसे न तो फल की प्राप्ति में प्रसन्न होना चाहिए और न ही असफल होने पर दुःखी। उसे आदर निरादर, प्रशंसा-निन्दा में भी सम रहने की आवश्यकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड के प्रारम्भ में लिखा है-

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मन्वेव नवास दुःखतः।

मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य में सदास्तु सा मञ्जुल मङ्गल प्रटा॥

जो राज्याभिषेक के अवसर पर प्रसन्न नहीं हुए और वनवास जाते समय दुःखी नहीं हुए, ऐसे भगवान राम मेरा कल्याण करें। यह है समता का उत्कृष्ट उदाहरण।

यह समता का भाव कैसे आये, इसका विस्तार से वर्णन स्वामी विवेकानन्द ने किया है। वास्तव में उन्होंने इसे व्यवहारिक रूप प्रदान किया है। स्वामी जी का कहना है कि दैनिक जीवन में हम जो कुछ करते हैं या सोचते हैं, उन सब की छाप मस्तिष्क पर पड़ती रहती है। कालांतर में यह छाप गहरी होती जाती है। इसे संस्कार भी कहते हैं। यदि हम अच्छा कार्य करते हैं या हमारे विचार शुद्ध रहते हैं तो संस्कार भी अच्छे होते हैं। जिसके अच्छे संस्कार पड़ जाते हैं वह विषम परिस्थितियों में भी चाहता हुआ भी बुरा कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार कछुवा अपने सिर व पैरों को अन्दर समेट लेता है और कोई कितनी भी चोट पहुंचाये वह अंगों को बाहर नहीं निकालता। उसी प्रकार अच्छे संस्कार वाला व्यक्ति अपनी इच्छाओं को अन्दर समेट कर रखता है। ऐसा व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखने में समर्थ हो जाता है। उसे ऐसा चरित्रवान व्यक्ति कहा जा सकता है जो कभी भी कोई बुरा काम कर ही नहीं सकता ऐसे व्यक्ति को एक श्रेष्ठ व्यक्ति की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु इससे भी ऊंची एक अवस्था है और वह है मुक्ति की अभिलाषा कर्मयोग का अंतिम लक्ष्य आत्मा की मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ है पूर्ण मुक्ति अर्थात् बुराई व अच्छाई दोनों से मुक्ति क्योंकि सोने की जंजीर भी उसी प्रकार से बंधन है जैसे लोहे की। उदाहरण के तौर पर यदि उंगली में कांटा लग जाय तो हम दूसरे कांटे से उसे निकालते हैं। जब कांटा निकल जाता है, उस कांटे को भी फेंक देते हैं। हम उसे रखते नहीं क्योंकि आखिर दोनों ही कांटे हैं। इसी प्रकार हमें अच्छी प्रवृत्तियों के द्वारा बुरी प्रवृत्तियों से आत्मा को मुक्त कराने की आवश्यकता है। उसके बाद अच्छी प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी होगी तभी अनासक्ति की अवस्था प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न यह है कि अनासक्ति की वांछित अवस्था कैसे प्राप्त हो। इसका उत्तर गीता के दूसरे अध्याय में वर्णित सांख्ययोग में मिलता है। इसमें कहा गया है कि पुरुष एवं प्रकृति या आत्मा एवं शरीर दोनों अलग-अलग हैं। प्रकृति अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि परिवर्तनशील है। ये सभी पैदा होते व मरते रहते हैं, किन्तु आत्मा न कभी पैदा होती है और न मरती है। इस अंतर को समझने के बाद यदि मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर बिना फल की चिन्ता किये कर्म करे तो वह कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनका कथन है कि प्रकृति अर्थात् शरीर, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि का अस्तित्व आत्मा के लिए है, आत्मा प्रकृति के लिए नहीं। आत्मा को प्रकृति से परिवर्तनशीलता एवं नश्वरता का ज्ञान प्राप्त करना है। इसके अलावा कुछ भी नहीं। जिस प्रकार एक पुस्तक को पढ़कर वांछित सूचना प्राप्त करने के पश्चात् वह हमारे किसी काम की नहीं रहती उसी प्रकार प्रकृति से ज्ञान प्राप्त करने के बाद वह भी हमारे किसी उपयोग की नहीं होती। किन्तु इसके स्थान पर हम प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर यह समझने लगते हैं कि हम अर्थात् आत्मा प्रकृति के लिए है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति यह सोचने लगता है कि वह जीने के लिए नहीं खाता वरन खाने के लिए जी रहा है। यह विचारधारा कामनाओं से मुक्त कार्य करने में अवरोध उत्पन्न करती है।

(10)

अस्तित्व, ज्ञान एवं परमानन्द तीनों अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे का महत्व नहीं है। अस्तित्व जब सापेक्ष होता है तो हम उसे संसार के रूप में देखते हैं। उस समय ज्ञान, सांसारिक ज्ञान के रूप में बदल जाता है और परमानन्द मनुष्य के हृदय में सच्चे प्रेम के आधार का रूप धारण कर लेता है।

स्वामी जी का कहना है कि सच्चा प्रेम वह है जिसमें स्वार्थ की भावना शून्य है। सच्चा प्रेम करने वाला उसका प्रतिदाय नहीं चाहता। उदाहरण के लिए हम अपने बच्चों का पालन पोषण करते हैं, किन्तु उसके बदले में उनसे कुछ नहीं चाहते। जब पति पत्नी एक दूसरे को प्यार करते हैं तो उनकी इच्छा होती है कि दूसरा व्यक्ति उनके पास बैठे, उनसे बात करे अथवा उनकी सहायता करे। यह सच्चा प्यार नहीं है। यह तो विकृत अनुराग है क्योंकि यदि पति या पत्नी उसकी इच्छानुसार कार्य नहीं करते तो उसे दुःख होता है। सच्चे प्रेम में दुःख या स्वार्थ का स्थान नहीं होता। जब कोई व्यक्ति अपने पति, पत्नी, बच्चों या सम्पूर्ण विश्व के किसी भी प्राणी से इतना प्यार करने लगे कि प्रतिक्रिया स्वरूप दुःख का अनुभव शून्य हो जाय तो कहा जा सकता है कि वह अनासक्ति की अवस्था को प्राप्त हो गया है।

भगवान ने स्वयम् इस अनासक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है। गीता के तीसरे

अध्याय के बाइसवें से चौबीसवें श्लोक में भगवान कहते हैं, “हे अर्जुन ! मेरे लिए तीनों लोकों में न तो कोई कर्त्तव्य है और न कोई वस्तु अप्राप्त है। फिर भी मैं निरंतर कर्म करता हूँ क्योंकि यदि मैं कर्म न करूँ तो सारी सृष्टि नष्ट हो जाय।” स्वामी जी इस आख्या को बढ़ाते हुए कहते हैं कि ईश्वर केवल इसलिए कार्य नहीं करता कि कर्म न करने से सारी सृष्टि नष्ट हो जायगी वरन् इसलिए करता है कि वह सारी रचना को सच्चे दिल से प्यार करता है। इसलिए यदि हम संसार को सच्चा प्यार देने लगे तो हमारा कर्म निष्काम हो जायगा और हम कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेंगे।

गीता के कर्म योग में निष्काम कर्म के लिए कहा गया है कि हमें कर्मफल की कामना नहीं करनी चाहिए और यदि फल की प्राप्ति हो जाय तो न ही उसका श्रेय लेने का प्रयास करना उचित है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वामी जी ने आत्म त्याग की आवश्यकता एवं संसार में व्याप्त दुःख को दूर करने के प्रयास पर जोर दिया है।

उनका कथन है कि मनुष्य का दुःख दूर करने के तीन मार्ग हैं। पहला है उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके उनके कष्ट का निवारण करना। उदाहरण के लिए उनके खाने, कपड़े और मकान का प्रबन्ध करना। किन्तु इसके द्वारा उनका दुःख थोड़े समय के लिए ही दूर हो सकता है। भूखे को खाना देने पर दूसरे दिन फिर से भूख लग जायगी एवं खाना न मिलने पर वह पुनः दुःखी होगा दुःख दूर करने का दूसरा मार्ग बौद्धिक ज्ञान देना है। यह दान भौतिक दान से उच्च श्रेणी का है। इसका महत्व जीवन दान से भी अधिक है। अज्ञान मृत्यु है, ज्ञान ही जीवन है। अज्ञानी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी दुःखी रहता है। इससे भी उच्च श्रेणी अध्यात्मिक ज्ञान की है। मनुष्य जाति का सबसे अधिक उपकार करने वाला वही है जो अध्यात्मिक ज्ञान का संदेश देता है। यही ज्ञान मनुष्य को दुःखों से सदा के लिए मुक्ति दिला सकता है।

इसके अतिरिक्त पूर्ण आत्म त्याग की आवश्यकता पर भी स्वामी जी ने बल दिया। इसके लिए उन्होंने एक पौराणिक कहानी का सहारा लिया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् पाण्डवों ने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया तथा निर्धनों को भारी मात्रा में दान दिया। लोगों ने इसके पूर्व इतने विशाल स्तर का यज्ञ एवं दान नहीं देखा था। अतः सभी ने भूरि भूरि प्रशंसा की। किन्तु समारोह के अन्त में एक नेवला आया जिसके शरीर का आधा भाग सुनहला तथा आधा भाग भूरा था। वह यज्ञशाला में लोटने लगा। उसके बाद उसने वहाँ पर उपस्थित लोगों से कहा, “आप लोग झूठ बोलते हैं। आपने कोई त्याग नहीं किया। सभी लोग आश्चर्य चकित होकर बोले, “क्या कहा? तुम इसे त्याग नहीं मानते? तुम जानते हो कितना धन, कितने रत्न एवं

मणियाँ गरीबों को दान में दी गई। सभी प्रसन्न तथा संतुष्ट होकर यहाँ से गये।”

नेवले ने उत्तर दिया, “एक बार एक छोटे से गांव में एक निर्धन ब्राह्मण अपनी पत्नी, बेटे व बहू के साथ रहता था। वह बहुत गरीब था तथा पुरोहित से दान में जो कुछ उसे मिल जाता, उसी में गुजारा करता था। एक बार वहाँ लगातार तीन वर्ष तक अकाल पड़ गया। ब्राह्मण परिवार को कई-कई दिनों तक भूखा रहना पड़ता। एक दिन उसे कहीं से जौ का कुछ आटा मिल गया जिसके चार भाग करके उसमें परिवार के प्रत्येक सदस्य को दे दिया। उन सभी ने इससे अपना-अपना भोजन तैयार किया। किन्तु जैसे ही वे खाने बैठे कि किसी ने उनका दरवाजा खटखटाया। खोलने पर एक अतिथि सामने खड़ा मिला। भारत में अतिथि को भगवान माना जाता है। अतः उस निर्धन ब्राह्मण ने आदर के साथ उसे अन्दर बुलाया एवं अपने हिस्से का भोजन उसे खाने के लिए दे दिया। उसे खाने के बाद अतिथि बोला, “मैं दस दिन से भूखा था। इतना कम खाना खाने के बाद तो मेरी भूख और भी बढ़ गई है।” इस पर ब्राह्मण की पत्नी अपना हिस्सा देने लगी। किन्तु उसके पति ने उसे मना किया। पत्नी बोली, “यह व्यक्ति निर्धन है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसे पेट भर खाना दें। अब आपके पास देने को तो कुछ नहीं है। अतः मुझे अपना हिस्सा देना चाहिए।” यह कहकर उसने अपना भोजन भी उसे खाने के लिए दे दिया। उसने इसे भी खा लिया और कहने लगा कि अभी उसे बहुत भूख लगी है। इसके बाद ब्राह्मण के बेटे ने अपना हिस्सा दे दिया। फिर भी उसकी भूख शान्त नहीं हुई अतः बहू ने भी अपना हिस्सा उसे खिला दिया अतिथि संतुष्ट होकर आशीर्वाद देता हुआ चला गया। उसी रात परिवार समेत ब्राह्मण की भूख से मृत्यु हो गई। उसके घर में कुछ आटा जमीन पर गिर गया था। जब मैं उस पर लोटने लगा तो मेरे शरीर का आधा भाग सुनहला हो गया जैसा कि आप देख रहे हैं। तब से मैं सारे संसार में इस आशा से घूम रहा हूँ कि कोई इसी प्रकार से बलिदान करने करने वाला मिल जाय। किन्तु अभी तक ऐसा कोई नहीं मिल सका जिससे मेरे शरीर का शेष आधा भाग भी सुनहला हो सकता। इसीलिए मैं कहता हूँ कि उसकी तुलना में आपके दान एवं त्याग का कोई मूल्य नहीं।

यह है स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग। अध्यात्मिक ज्ञान का दान एवं उत्कृष्ट बलिदान। यदि किसी की सेवा करते हुए मृत्यु आ जाय तो उसका भी स्वागत है। लाखों बार धोखा खाना पड़े, फिर भी मन में दुविधा नहीं आनी चाहिए। यदि किसी को दान करे तो न तो गर्व की अनुभूति होनी चाहिए और न ही प्राप्तकर्ता की कृतज्ञता की आशा करनी चाहिए। भगवान की भाँति स्वामी जी ने भी प्रेम, त्याग एवं अध्यात्मिक ज्ञान के दान का आदर्श प्रस्तुत करके यह अपेक्षा की है कि लोग उनका अनुसरण करें। □

(11)

कर्म और उसका रहस्य

(स्वामी विवेकानन्द द्वारा जनवरी ४, १९०० ई. को लॉस एंजलिस, कैलिफोर्निया में दिये गये भाषण के अंश)

अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरुष थे। यह महान् सत्य स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूप में परिणत हुआ था। इस एक सत्य से मैं सर्वदा बड़े-बड़े पाठ सीखता आया हूँ और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है—साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना साध्य की ओर।

कभी असफलता मिलने पर हम यदि बारीकी से उसकी छानबीन करें, तो निन्यानबे प्रतिशत यही पायेंगे कि उसका कारण था हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना। हमें आवश्यकता है अपने साधनों को पुष्ट करने की और उन्हें पूर्ण बनाने की। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक हैं, तो साध्य की प्राप्ति होगी ही। हम यह भूल जाते हैं कि कारण ही कार्य का जन्मदाता है, कार्य स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता, और जब तक कारण अभीष्ट, समुचित और सशक्त न हों, कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी।

यदि हम अपने जीवन का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि दुःख का सबसे बड़ा हेतु यह है—हम कोई बात हाथ में लेते हैं और अपनी पूरी ताकत उसमें लगा देते हैं; कभी-कभी असफलता होती है, पर फिर भी हम उसका त्याग नहीं कर सकते। यह आसक्ति ही हमारे दुःख का कारण है। हम जानते हैं कि वह हमें हानि पहुंचा रही है और उसमें चिपके रहने से केवल दुःख ही हाथ आयेगा, फिर भी हम उससे अपना छुटकारा नहीं कर सकते। मधुमक्खी तो शहद चाटने आयी थी, पर उसके पैर चिपक गये उस मधुचषक से और वह छुटकारा नहीं पा सकी। बार बार हम अपनी यही स्थिति अनुभव करते हैं। यही हमारे अस्तित्व का सम्पूर्ण रहस्य है। हम यहां आये थे मधु पीने, पर हम देखते हैं हमारे हाथ पांव उसमें फंस गये हैं। आये थे पकड़ने के लिए, पर स्वयं ही पकड़ गये ! आये थे उपभोग के लिए, पर खुद ही उपभोग्य बन बैठे ! आये थे हुकूमत करने, पर हम पर ही हुकूमत होने लगी! आये थे कुछ काम करने, पर देखते हैं कि हमसे ही काम लिया जा रहा है।

दुःख का एकमेव कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बंधते जा रहे हैं।

इसीलिए गीता में कहा है : निरंतर काम करते रहो, पर आसक्त मत होओ; बन्धन में मत पड़ो। प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की शक्ति स्वयं में संचित रखो। वह वस्तु तुम्हें बहुत प्यारी क्यों न हो, तुम्हारा प्राण उसके लिए चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट क्यों न उठाना पड़े, फिर भी अपनी इच्छानुसार उसके त्याग करने की अपनी शक्ति संजोये रहो।

आसक्ति ही अभी हमारे सब सुखों की जननी है। हम अपने मित्रों और संबंधियों में आसक्त हैं; हम अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक कार्यों में आसक्त हैं; हम बाह्य वस्तुओं में आसक्त हैं। इसलिए कि उनसे हमें सुख मिले। पर क्या इस आसक्ति के अतिरिक्त अन्य और किसी कारण से हम पर दुःख आता है? अतएव, आनन्द प्राप्त करने के लिए हमें अनासक्त होना चाहिए। यदि हममें इच्छा मात्र से अनासक्त होने की शक्ति होती है, तो हमें कभी दुःख न होता। केवल वही मनुष्य प्रकृति से पूरी पूरी लाभ उठा सकता है, जो किसी वस्तु में अपने मन को अपनी समस्त शक्ति के साथ लगा देने के साथ ही अपने को स्वेच्छा से, जब उससे अलग हो जाना चाहिए तब उससे अलग कर लेने की भी सामर्थ्य रखता है। आसक्ति और अनासक्ति की क्षमता समान रूप से होनी चाहिए।

(12)

भिखारी कभी सुखी नहीं होता। उसे केवल भीख ही मिलती है। वह भी दया और तिरस्कार से युक्त; उसके पीछे कम से कम यह कल्पना तो अवश्य ही होती है कि भिखारी एक निकृष्ट जीव है जो कुछ वह पाता है, उसका सच्चा उपभोग उसे कभी नहीं मिलता।

हम सब भिखारी है जो कुछ हम करते हैं, उसके बदले में हम कुछ चाह रखते हैं। हम लोग हैं। व्यापारी। हम जीवन के व्यापारी हैं, शील के व्यापारी हैं, धर्म के व्यापारी हैं! अफसोस! हम प्यार के भी व्यापारी है।

हम फंस जाते हैं। कैसे ? उससे नहीं जिसे हम देते हैं, वरन् उससे जिसके पाने की हम अपेक्षा करते हैं। हमारे प्यार के बदले हमें मिलता है दुःख इसलिए नहीं कि हम प्यार करते हैं, वरन् इसलिए कि हम बदले में चाहते हैं प्यार। जहां चाह नहीं है, वहां दुःख भी नहीं है। वासना, चाह—यही दुःखों की जननी है। वासनाएं सफलता और असफलता के नियमों से बद्ध हैं। वासनाओं का परिणाम दुःख ही होता है।

अतएव, सच्चे सुख और यथार्थ सफलता का महान् रहस्य यह है कि बदले में कुछ भी न चाहने वाला बिल्कुल निःस्वार्थी व्यक्ति ही सबसे अधिक सफल व्यक्ति होता है। यह तो विरोधाभास सा है; क्योंकि क्या हम यह नहीं जानते कि जो

निःस्वार्थी है, वे इस जीवन में ठगे जाते हैं, उन्हें चोट पहुंचती है? 'ईसा मसीह निःस्वार्थी थे, फिर भी उन्हें सूली पर चढ़ाया गया'—यह सच है; किन्तु हम यह भी जानते हैं कि उनकी निःस्वार्थपरता एक महान् विजय का कारण है—और वह विजय है कोटि कोटि जीवनों पर सच्ची सफलता के वरदान की वर्षा का होना।

कुछ भी न मांगो, बदले में कोई चाह न रखो। तुम्हें जो कुछ देना हो, दे दो। वह तुम्हारे पास वापस आ जायेगा; लेकिन आज ही उसका विचार मत करो। वह हजार गुना हो वापस आयेगा, पर तुम अपनी दृष्टि उधर मत रखो। देने की ताकत पैदा करो। दे दो और बस काम खत्म हो गया। यह बात जान लो कि सम्पूर्ण जीवन दान स्वरूप है, प्रकृति तुम्हें देने के लिए बाध्य करेगी। इसलिए स्वेच्छापूर्वक दो। एक न एक दिन तुम्हें देना ही पड़ेगा। इस संसार में तुम जोड़ने के लिए आते हो। मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ेगा। सूर्य समुद्र से पानी लेता है, इसलिए कि वह वर्षा करें। तुम भी लेन-देन के यंत्र मात्र हो। तुम इसलिए लेते हो कि तुम दो। बदले में कुछ मत मांगो। तुम जितना ही अधिक दोगे, उतना ही अधिक तुम्हें वापस मिलेगा।

हम बचपन से ही सर्वदा अपने से बाहर किसी दूसरी वस्तु पर दोष मढ़ने का प्रयत्न किया करते हैं। हम सदा दूसरों के सुधार में तत्पर रहते हैं, पर अपने सुधार में नहीं। यदि हम दुःखी होते हैं, तो चिल्लाते हैं कि 'यह तो शैतान की दुनिया है!' हम दूसरों को दोष देते हैं और कहते हैं, 'कैसे मोहग्रस्त पागल है!' यदि हम सचमुच इतने अच्छे हैं, तो हम ऐसी दुनिया में भला रहते कैसे हैं? यदि यह शैतान की दुनिया है, तो हम भी शैतान ही हैं, नहीं तो हम यहां क्यों रहते? 'ओह, संसार के लोग कितने स्वार्थी है!'—सच है, पर यदि हम उनसे अच्छे हैं, तो फिर हमारा उनसे सम्बन्ध कैसे हुआ? जरा यह सोचो तो।

जिसके हम पात्र हैं, वही हम पाते हैं। जब हम कहते हैं कि दुनिया बुरी है और हम अच्छे, तो यह सरासर झूठ है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। यह एक भीषण असत्य है, जो हम अपने से कहते हैं।

अतएव, सीखने का पहला पाठ यह है : निश्चय कर लो कि बाहरी किसी भी वस्तु पर तुम दोष न मढ़ोगे, उसे अभिशाप न दोगे। इसके विपरीत, मनुष्य बनो, उठ खड़े हो और दोष स्वयं अपने ऊपर मढ़ो। तुम अनुभव करोगे कि यह सर्वदा सत्य है। स्वयं अपने को वश में करो।

क्या यह लज्जा का विषय नहीं है कि एक बार तो हम अपने मनुष्यत्व की अपने देवता होने की बड़ी-बड़ी बातें करें, हम कहें कि हम सर्वज्ञ हैं, सब कुछ करने

में समर्थ हैं, निर्दोष हैं, पापहीन हैं और दुनिया में सबसे निःस्वार्थी है, और दूसरे ही क्षण एक छोटा सा पत्थर भी हमें चोंट पहुंचा दे, किसी साधारण से साधारण मनुष्य का जरा सा क्रोध भी हमें जख्मी कर दे और कोई भी चलता राहगीर 'हम देवताओं' को दुःखी बना दे! यदि हम ऐसे देवता हैं, तो क्या ऐसा होना चाहिए? क्या दुनिया को दोष देना उचित है?

अपनी चिन्ता हमें स्वयं ही करनी है। इतना तो हम कर ही सकते हैं। हमें कुछ समय तक दूसरों की ओर ध्यान देने का ख्याल छोड़ देना चाहिए। आओ, हम अपने साधनों को पूर्ण बना लें, फिर साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा। क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ, हम अपने आपको पवित्र बना लें ! आओ, हम अपने आपको पूर्ण बना लें।

□

'हम सबकी माता'

(13)

भारत हमारी प्रजाति की जन्मभूमि और संस्कृत यूरोप की भाषाओं की जननी रही है, वह हमारे दर्शन की भी जननी, अरबों माध्यम से गणित की जननी, बुद्ध के माध्यम से ईसायत में अंतर्निहित मूल्यों की जननी और ग्राम पंचायतों के माध्यम से जनतंत्र की भी जननी रही है। भारत माता अनेक दृष्टियों से हम सबकी माता है।

— बिल ड्यूरां

भारत मानव जाति का पालना, भाषा की जन्मभूमि, इतिहास की माता, कथाओं की दादी और परम्परा रही है। वह ऐसी जन्मभूमि रही है, जिसके दर्शन के लिए सब लालायित रहते हैं।

—मार्कट्वेन

यदि मैं अपने आप से पूछूं कि वह कौन-सा साहित्य है, जिससे हम यूरोपीय लोग, आज तक केवल ग्रीस और रोम के तथा यहूदी जैसी सेमेटिक प्रजाति के विचारों पर पाले-पोसे गये हैं, उत्तुंग विचारों को प्रस्तुत कर सकते हैं, जो हमारे आंतरिक जीवन को अधिक विशाल, अधिक वैश्विक और सही अर्थों में मानवीय बनाने के लिए नितांत आवश्यक है, जो केवल इस जीवन के लिए ही नहीं अपितु देहांतर और शाश्वत जीवन के लिए आवश्यक है, तो मैं पुनः भारत की ओर इंगित करूंगा।

— मैक्स मूलर

स्वामी विवेकानन्द के सांस्कृतिक नवजागरण में महिलाओं का योगदान

- डा० (श्रीमती) अजित गुप्ता

स्वामी विवेकानन्द बाल्यकाल से ही सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक नवजागरण के प्रखर चिंतक रहे हैं। बाल्यकाल में राम-सीता के युगल रूप की आराधना करते हुए, भक्त प्रह्लाद और नचिकेता सहित अनेक पौराणिक आदर्शों का नाट्य मंचन उनके प्रतिदिन के कार्यक्रमलापों में निहित था। उनके अन्तर्मन में संन्यास के प्रति तीव्र आकर्षण था और वे संन्यास के प्रति प्रतिबद्ध भी थे। इसलिए वे बाल्यकाल से ही ध्यान लगाकर साधना करने लगे थे। बाल्यकाल में ही उन्हें अपनी मां से महाभारत और रामायण सहित अनेक पौराणिक ग्रन्थों और कथाओं का ज्ञान प्राप्त हुआ इसलिए उनकी प्रथम गुरु उनकी मां ही थी। अमेरिका निवास के समय उनसे एक प्रश्न किया गया कि उनकी इतनी तीव्र स्मरणशक्ति का राज क्या है? उनका सहज उत्तर था कि मेरी मां की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी, वे जिस भी ग्रन्थ को एक बार पढ़ लेती थी, वह उन्हें स्मरण हो जाता था। किशोरावस्था में वे ब्रह्म समाज के सम्पर्क में आए और मूर्तिपूजा के विरोधी हो गये। ब्रह्म समाज की एक भजन संध्या में वे रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आए। वे परमहंस से मिलने दक्षिणेश्वर स्थित काली मंदिर में जाते रहे लेकिन कभी भी वे मन्दिर में नहीं गए। उनके पिता के देहावसान के बाद जब उनके परिवार पर वित्तीय संकट उपस्थित हुआ तब वे परमहंस के पास गए और उन्होंने कहा कि आप मुझे परिवार संचालन के लिए आवश्यक वित्तीय साधनों का आशीर्वाद दें। रामकृष्ण परमहंस ने कहा कि मैं कौन होता हूँ कुछ देने वाला, जा तू मां के पास जा और उनसे ही मांग, वे ही जगत-जननी हैं, वे ही तुझे देंगी। नरेन्द्र (संन्यास के पूर्व का नाम) प्रथम बार काली मन्दिर जाते हैं, और माँ काली के समक्ष साष्टांग प्रणाम करते हैं लेकिन अपने लिए ज्ञान और भक्ति ही मांग पाते हैं। तीन बार के प्रयास के बाद भी नरेन्द्र मां से धन नहीं मांग सके तब रामकृष्ण परमहंस ने उनके सर पर हाथ रखा और कहा कि मां तेरे परिवार को मोटे अनाज और मोटे वस्त्र से कभी वंचित नहीं करेगी।

नरेन्द्र संन्यास लेते हैं और खेतड़ी के राजा अजीत सिंह उनका नामकरण विवेकानन्द के रूप में करते हैं। संन्यास के बाद वे सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हैं। वे जहां भी जाते हैं, उनसे प्रभावित होकर प्रत्येक विद्वान् उन्हें यूरोप जाने का परामर्श

देता है। तभी 1893 में अमेरिका के शिकागो शहर में विश्व धर्म संसद के आयोजन का समाचार आता है और खेतड़ी नरेश सहित अनेक विद्वान् उन्हें धर्म संसद में भाग लेने का आग्रह करते हैं। वे सभी से कहते हैं कि मां जगदम्बा की आज्ञा मिलने पर ही मैं अमेरिका जाने का विचार बनाऊंगा। इस कारण वे कन्या कुमारी जाते हैं। वे समुद्र में तैरकर समुद्र के मध्य बनी चट्टान पर तीन दिन रहते हैं। उन्हें वहां आभास होता है कि मां ने उन्हें जाने की आज्ञा प्रदान की है। जब वे पूर्ण रूप से आश्वस्त हो जाते हैं तब वे शिकागो जाने के लिए तैयार होते हैं। राजा अजीत सिंह उन्हें खेतड़ी दरबार का गुरु बनाकर शिकागो के लिए रवाना करते हैं।

(14)

स्वामी जी जब शिकागो पहुंचते हैं तब पता लगता है कि वे धर्म संसद प्रारम्भ होने से डेढ़ माह पूर्व ही अमेरिका आ गए हैं साथ ही उनका धर्म संसद हेतु पंजीकरण नहीं है। उन्हें स्मरण आता है कि वे जिस रेल से यात्रा कर रहे थे वहां उन्हें एक महिला मिली थी जिसने उन्हें कहा था कि आपको यदि अमेरिका में किसी भी प्रकार की कठिनाई हो तो आप निःसंकोच मेरे घर पर चले आएंगे। उन्होंने केथरीन एब्बॉट सेनबार्न जो क्रेट के नाम से प्रसिद्ध थी को तत्काल तार भेजा। क्रेट साहित्यकार थी और महिला क्लबों में भी उनकी पकड़ थी। क्रेट को जब स्वामीजी का तार मिला तब उसने तत्काल ही उत्तर दिया और कहा कि आप शीघ्र मेरे घर चले आएंगे। क्रेट ने न केवल उन्हें अपने घर में रहने को स्थान दिया अपितु उनकी चर्चाएं भी महिला क्लब एवं बंदी सुधारगृह में करवायी। क्रेट ने ही उनका परिचय प्रो. राइट और मिसेज राइट से कराया, जिन्होंने स्वामी जी के धर्म संसद में भाग लेने के लिए पंजीकरण कराया। स्वामी जी एक सप्ताह तक प्रो. राइट के साथ रहे और संसद प्रारम्भ होने के कुछ दिन पहले ही शिकागो लौटे। प्रो. राइट ने उन्हें धर्म संसद का पता लिखकर दिया था लेकिन रेल यात्रा में या तो स्वामी जी की जेब से किसी ने पैसे और वह पता दोनों निकाल लिए या फिर कहीं वह गिर गए। स्वामीजी जब शिकागो पहुंचे तब उन्हें कोई भी धर्म संसद का पता बताने को तैयार नहीं हुआ। स्टेशन पर वे जिससे भी सहायता मांगते वह उन्हें देखकर घृणा से मुंह फेर लेता या फिर उन्हें मारने दौड़ता। काले लोगों के प्रति उस समय घृणा का भाव मुखर था। स्वामीजी रात व्यतीत करने के लिए स्थान की खोज में थे और उन्हें एक मालगाड़ी का डिब्बा दिखायी दिया जिस पर घास बिछी हुई थी। स्वामीजी वहीं जाकर सो गए। सुबह उठकर उन्होंने फिर सहायता के लिए लोगों से याचना की लेकिन उन्हें वैसा ही व्यवहार मिला। उन्होंने लोगों के घरों में दस्तक दी लेकिन एक काले और वह भी लम्बे कोट और साफा पहने व्यक्ति को देखते ही लोग मारने और धमकी देने

लगते थे। वे पैदल ही चलते रहे, विवेकानन्द हार-थककर, भूखे-प्यासे एक जगह बैठ गए। उन्हें डर था कि सार्वजनिक स्थान पर बैठने पर उन्हें दण्डित भी किया जा सकता है। लेकिन अब उनके पैर जवाब देने लगे थे। वे चिंतन कर रहे थे कि क्या मां जगदम्बा का आदेश नहीं है?

कुछ देर के पश्चात् सामने के मकान से एक भद्र महिला बाहर निकली और वह सीधे ही स्वामीजी के पास आयी और उसने स्वामीजी से पूछा कि क्या आप धर्म संसद में भाग लेने आए हैं? स्वामी जी आश्चर्य चकित थे, वे बोले की मां तू आज साक्षात् उपस्थित हो गयी है। आया हूँ लेकिन मुझे वहां का पता खो गया है। श्रीमती बेले हेल ने कहा कि इतने ग्रंथों को याद करते हो और एक पता याद नहीं रख सके? श्रीमती बेले हेल उन्हें अपने घर ले गयी और स्नान और भोजन की सुविधा प्रदान की। तथा धर्म संसद के कार्यालय ले जाकर वहां के अध्यक्ष डॉ. बेरोज से उन्हें मिलवा दिया। श्रीमती बेले ने उनकी भरपूर सहायता की। जब स्वामी जी निराश हो चले थे तब मां के रूप में ही श्रीमती बेले उनके समक्ष आ गयी थी।

श्रीमती एमिली लियन ने धर्म संसद के अध्यक्ष से अनुरोध किया था कि वे किसी एक प्रतिनिधि को मेरे निवास पर ठहरा सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द एमिली लियन के अतिथि बने। 11 सितम्बर 1893 को धर्म संसद के प्रथम दिन जब स्वामी विवेकानन्द अपने उद्बोधन के लिए खड़े हुए और उन्होंने जब अमेरिकावासी मेरे भाइयों और बहनों का सम्बोधन किया तब उपस्थित लोग खड़े होकर तालियां बजाने लगे, कुछ लोग बेंच पर खड़े हो गए। आयोजक समझ नहीं पा रहे थे कि आखिर इस सम्बोधन में ऐसा क्या था जिससे लोग इतने आल्हादित हो गए हैं? उनके प्रथम उद्बोधन के बाद जब श्रीमती बेले हेल अपने घर गयी तो वे बहुत दुखी थी। उन्होंने अपने पति से कहा कि मैं स्वामी जी को ताना दे रही थी कि इतने ग्रंथों का स्मरण रखने वाला व्यक्ति एक पता भूल गया और आज मैं एक महान व्यक्ति को पहचान नहीं पायी। उसने मुझे मां कहकर सम्बोधित किया और मैं अपने पुत्र को पहचान नहीं पायी। मैं स्वयं ही जाकर उन्हें डॉ. बेरोज को सौंप आयी और आज वे श्रीमती एमिली लियन के अतिथि हैं। वे अपने पति से कहने लगी कि अब मैं उन्हें अपने घर कैसे लाऊं? उनके पति ने कहा कि तुम रोज ही उनके व्याख्यान सुनो और एक दिन उन्हें आमंत्रित कर देना, कहना कि हे पुत्र, अपनी मां के घर कब आओगे? विवेकानन्द अवश्य आएंगे।

अमेरिका प्रवास के दौरान विवेकानन्द ने कहा था कि अमेरिका में सांस्कृतिक जागरण की कर्णधार यहां की महिलाएं ही हैं। वे धर्म चर्चा एवं आध्यात्म चर्चा में

ना केवल रुचि लेती हैं अपितु वे उसके मर्म को भी समझती हैं। यही कारण था कि विवेकानन्द के जीवन में और उनके व्याख्यानों को आयोजित कराने में सर्वाधिक हाथ महिलाओं का ही था। उनकी प्रथम दीक्षित शिष्या भी एक महिला ही थी जिसका नाम मिस मेरी लुई था और स्वामी जी ने उसका नाम अभयानन्द रखा था। मिस सेरा बुल और मिस डचर भी ऐसे नाम हैं जिन्होंने स्वामी जी के लिए तन-मन-धन से सदैव सहयोग किया। मिस सेरा बुल तो स्वामी जी की कक्षाओं का पूर्ण आर्थिक व्यय वहन करती थी। मिस डचर ने उनके लिए स्वयं के ही एक द्वीप में जिसे स्वामीजी ने सहस्त्रद्वीपोद्यान का नाम दिया था, कक्षाओं के साथ दीक्षा का प्रबंध भी किया था। यहीं स्वामी जी ने अभयानन्द और कृपानन्द को दीक्षित किया था।

जोसोफिन, रोथलिसबर्जर और बैस्सि भी ऐसे ही नाम हैं जिनका स्वामीजी को भूरपूर सहयोग मिला। जोसोफिन और बैस्सि दो बहने थीं और जोसोफिन की रुचि आध्यात्म की ओर थी। वे एक दिन बाजार गयी और उन्हें “भगवत गीता” दिखाई दी। वे उस ग्रन्थ को देखकर प्रभावित हुई और उसे खरीदकर ले आयीं। गीता पढ़ने के बाद उन्हें ऐसा लगा कि ध्यान द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है और इसलिए वे ध्यान लगाने की ओर प्रेरित हुई। एक बार उनकी सखी रोथलिसबर्जर के साथ वे ध्यान-मुद्रा में बैठी थी, उनकी सखी ने उन्हें बताया कि मुझे ध्यान में एक व्यक्ति दिखायी दिया है जिसने सफेद वस्त्र लपेट रखे थे। जोसोफिन ने कहा कि यह तुम्हारा भ्रम होगा, लेकिन रोथलिस बर्जर ने कहा कि नहीं यदि मैं इस इंसान को कहीं भी देखूंगी तो मैं उसे पहचान सकती हूँ। जब जोसोफिन और रोथलिस विवेकानन्द से मिली तब उन्हें लगा कि हमें स्वामीजी की कक्षाओं में निरन्तर आना चाहिए। एक दिन स्वामी जी “मेरे गुरु” विषय पर अपना उद्बोधन दे रहे थे, सभी की जिज्ञासा थी कि स्वामी जी अपने गुरु का कोई चित्र दिखाएं। स्वामी जी ने तब रामकृष्ण परमहंस का चित्र सभी के समक्ष रखा। चित्र देखते ही रोथलिसबर्जर ने कहा कि मैंने इन्हें ही अपने ध्यान में देखा था। स्वामीजी ने कुछ नहीं कहा, वे समझ गए थे कि उनके गुरु उनसे पूर्व ही अमेरिका आ गए थे। इसी कारण जोसोफिन ने स्वामी जी से कहा कि मैं आपकी शिष्य नहीं हूँ अपितु आपकी गुरु-भाई हूँ इसलिए मैं आपकी सखी हूँ और जोसोफिन सदैव ही स्वयं को स्वामीजी की सखी कहती रही। उन्होंने ही स्वामीजी के उद्बोधन को लिपिबद्ध करना का प्रारम्भ किया। उनकी बहन बैस्सि का विवाह फ्रांसिस लेगेट से हुआ, वे धनाढ्य व्यक्ति थे और उन दोनों ने ही स्वामी जी का सदैव साथ दिया।

महिलाओं के योगदान की सूची बहुत विस्तृत है। स्वामीजी के व्याख्यानों में

अधिकांश महिलाएं ही होती थी। ना केवल वे व्याख्यान सुनती थी अपितु उन्हें लिपिबद्ध कर प्रकाशन की व्यवस्था भी वे ही करती थी। स्वामीजी की कक्षाओं के लिए स्थान की व्यवस्था, उनके व्याख्यान की व्यवस्था, उनके भोजन की व्यवस्था में पूर्ण रूप से अमेरिका की महिलाओं का योगदान था। इसलिए स्वामीजी कहते थे कि अमेरिका का सांस्कृतिक जागरण महिलाओं के कारण ही है। कई बार तो स्वामीजी व्यस्त होते थे और पत्रकार उनका साक्षात्कार लेने आ जाते थे, ऐसे में पत्रकार के प्रश्नों का उत्तर उनकी महिला शिष्या ही दे देती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि वे सभी वेदान्त में पूर्ण निष्णात हो गयी थीं। इसलिए जिस भी राष्ट्र में महिलाओं का बौद्धिक जागरण होता है वह राष्ट्र बौद्धिक समृद्धि से परिपूर्ण होता है।



(पृष्ठ 17 का शेष भाग)

हैं। इससे मेरे दिमाग में अपने देश के गरीब लोगों की हालत का विचार आया और मेरी आंखों से आंसू निकलने लगे। अन्तर का क्या कारण था? मुझे उत्तर मिला शिक्षा। शिक्षा के जरिए लोगों में अपनी क्षमता पर विश्वास पैदा होता है, और विश्वास के जरिए उनका बाह्य जागृत होता है, जबकि शिक्षा के अभाव में हमारा ब्रह्म धीरे-धीरे निद्रा में निमग्न होता जाता है।

ज्ञान के प्रकाश के अभाव में, शिक्षा के प्रसार के बिना देश की प्रगति कैसे हो सकती है?...इस बात को निश्चित रूप से समझ लीजिए कि जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होगा हालत में सुधार नहीं हो सकता। पहले महिलाओं में और फिर आम जनता को शिक्षित कीजिए...इतिहास और पुराण, गृहस्थी का संचालन कला, गृहस्थ जीवन के कर्तव्य और आदर्श के सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की सहायता से सिखाए जाने होंगे। महिलाओं-छात्रों को नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा का प्रशिक्षण देना होगा... केवल शिक्षित और धर्मनिष्ठ मांओं के घर में महान व्यक्ति जन्म लेते हैं।



बहुमुखी प्रतिभा के धनी स्वामी विवेकानन्द

- डा० एम० पी० गुप्ता

स्वामी विवेकानन्द को विशेष रूप से एक आध्यात्मिक विभूति के रूप में जाना जाता है जिसने भारतीय वेदांत का पूरे विश्व में प्रचार-प्रसार कर भारत का गौरव बढ़ाया। किन्तु उनके पूरे जीवन वृत्त एवं साहित्य का अध्ययन करने पर पता चलता है कि स्वामी जी ने जीवन के अनेक क्षेत्रों को न केवल छुआ ही है वरन् उनमें महारत भी हासिल की है। कुछ ऐसे ही क्षेत्रों की यहां चर्चा की जा रही है।

1. **संगीत** :- स्वामी जी बचपन से ही संगीत प्रेमी थे। वे अत्यन्त सुमधुर स्वर से भजन गाया करते थे। उन्होंने संगीत की विधिवत शिक्षा भी दो उस्तादों, श्री बेनी गुप्ता तथा श्री अहमद खां से ग्रहण की थी। वे अनेक वाद्ययंत्रों को भी बजाया करते थे। संगीत गोष्ठी में जब पखावाज लेकर बैठते तो संगीत प्रेमी उसे निहारते ही रह जाते थे। सच तो यह है कि संगीत ही उनके और स्वामी रामकृष्ण की प्रथम भेंट का आधार बना। स्वामी जी के पड़ोसी श्री सुरेन्द्र नाथ मिश्रा, श्री रामकृष्ण के भक्त थे तथा प्रायः उन्हें अपने यहां आमंत्रित करते थे। ऐसे ही एक सत्संग के दौरान उन्होंने स्वामी जी को भजन सुनाने के लिए बुलाया। उन्होंने भजन वहां सुनाया जिसे सुनकर रामकृष्ण आत्मभाव विभोर हो उठे और उन्हें गले लगाकर कहने लगे-‘अरे तू इतने दिन कहां था, मैं तो तुझे कब से ढूँढ रहा था।’ तभी से दोनों के बीच मिलने का सिलसिला चल पड़ा यद्यपि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध काफी दिनों बाद हुआ।

2. **खेल कूद** :- खेलकूद में स्वामीजी बचपन से ही अपने साथियों में अग्रणी रहे। खेलों में प्रायः उनके साथी उन्हें राजा अथवा नेता बनाकर उनके निर्देशों का पालन किया करते। वे बैडमिन्टन, फुटबाल तथा क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ियों में से थे।

चौदह वर्ष की आयु में स्वामी जी बीमार हुए। डाक्टरों ने उन्हें हवा-पानी बदलने की सलाह दी। उन दिनों उनके पिताजी रायपुर में थे अतः वे भी वही आ गए। अच्छा स्कूल न होने के कारण वहां उन्होंने स्कूली शिक्षा छोड़ अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया और अखाड़े में जाने लगे। थोड़े ही दिनों में उनके गुरु जी स्वामीजी के पिताजी के पास आकर कहने लगे कि इस बालक को आप किसी अच्छे पहलवान के पास भेज दें तो निसंदेह यह विश्व के माने हुए पहलवानों में गिना जायगा। इस प्रकार कुश्ती में भी उन्होंने विशिष्ट स्थान बनाया।

3. **कविता** :-स्वामी जी ने अनेक कविताओं का सृजन किया है। वे प्रायः अंग्रेजी में कविताएं लिखते थे। किन्तु हिन्दी और बंगला में भी उन्होंने कविताएं लिखी है। कुछ कविताओं के उन्होंने अनुवाद भी किए। ये कविताएं भी उनकी प्रतिभा का दिग्दर्शन कराती हैं।

4. **विज्ञान** :-आमतौर पर विज्ञान एवं अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी समझे जाते हैं क्योंकि आध्यात्म का आधार है आस्था और विश्वास है जबकि विज्ञान तथ्यों को आधार मानकर चलाता है। किन्तु स्वामी विवेकानन्द उन आध्यात्मिक गुरुओं में से थे जो तर्कों में विश्वास करते थे। वे अक्सर कहा करते थे कि किसी बात का इसलिए सही मत मानो, क्योंकि वह किसी महापुरुष ने कही है अथवा किसी सद्ग्रन्थ में लिखी हुई है। तर्क की कसौटी पर कस कर ही सही-गलत का निर्णय करो। वे स्वयं वर्षों तक एक ऐसे व्यक्ति की तलाश में रहे जिसने ईश्वर को देखा हो और जो उन्हें भी दिखला सके। हर किसी ने उनकी इस जिज्ञासा को वाक् जाल से सन्तुष्ट करना चाहा किन्तु उन्हें आकृष्ट किया श्री रामकृष्ण ने यह कहकर कि हां उन्होंने ईश्वर को देखा है और उन्हें भी दिखला सकते हैं। इसके बावजूद उन्होंने कई वर्षों तक श्री रामकृष्ण को अपना गुरु नहीं माना जब तक वे पूर्णतया संतुष्ट नहीं हो गए।

इसीलिए स्वामी जी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते थे। अपने विदेश प्रवास के दौरान वे एक बार जापान गए। वहां की प्रगति को देख कर वे इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा कि मैं चाहता हूं कि प्रत्येक भारतवासी एक बार जापान अवश्य आए और देखे कि वहां के निवासी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को अपना कर किस प्रकार प्रगति कर रहे हैं।

स्वामी जी का कहना था कि धर्म और विज्ञान में बहुत समानता है। धर्म आध्यात्मिक जगत के यथार्थ की उसी तरह खोज करता है जिस प्रकार विज्ञान भौतिक जगत के सत्य की। अन्तर केवल इतना है कि धर्म अन्तःकरण से सत्य को खोजकर जगत में प्रकाशित करता है जबकि विज्ञान बाहर होने वाले कारको से तथ्य की खोज करता है। स्वामी जी ने अपने एक विदेशी मित्र को एक पत्र में लिखा था कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री टेस्ला का विचार है कि वे प्रयोग द्वारा पदार्थ तथा शक्ति को ऊर्जा में परिवर्तित करके दिखा सकते हैं। यदि यह सच हो गया तो ब्रह्मांड को एक सुदृढ़ आधार मिल जाएगा मेरा तो यह विश्वास है कि ब्रह्मांड-ज्ञान तथा विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं।

अपने विदेश प्रवास के दौरान ही उन्होंने प्रसिद्ध उद्योगपति टाटा से भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संस्थान स्थापित करने का अनुरोध किया। टाटा ने अनुरोध को स्वीकार करते हुए कहा कि ठीक है किन्तु उस संस्थान को संभालने की जिम्मेदारी आप उठाए। स्वामी जी ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि उनका क्षेत्र अलग है। किन्तु मेरा यह विश्वास है कि यदि उन्होंने उस अनुरोध को स्वीकार कर लिया होता तो स्वामी जी आध्यात्मिक गुरु न होकर एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक होते और विश्व में विज्ञान का प्रथम नोबेल पुरस्कार उनके नाम होता।

Q

निष्काम कर्म ही सच्चा संन्यास है

यह संसार कायों के लिए नहीं है। पलायन की चेष्टा मत करो। सफलता अथवा असफलता की चिन्ता मत करो। पूर्ण निष्काम संकल्प में अपने को लय कर दो और कर्तव्य करते चलो। समझ लो कि सिद्धि पाने के लिए जन्मी बुद्धि अपने आपको दृढ़ संकल्प में लय करके सतत कर्मरत रहती है। कर्म में तुम्हारा अधिकार है, पर इतने पतित मत बनो कि फल की कामना करने लगो। अनवरत कर्म करो, पर अनुभव करो कि कर्म के पीछे भी कुछ है। सत्कर्म भी मनुष्य को महान बन्धन में डाल सकते हैं। अतः सत्कर्मों के, अथवा नाम और यश की कामना के, बन्धनों से मत बंधो। जिन्हें इस रहस्य का ज्ञान हो जाता है, वे जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं, अमर हो जाते हैं।

सामान्य संन्यासी संसार त्याग देता है, बाहर निकल कर भगवान् का चिन्तन करता है। सच्चा संन्यासी तो संसार में ही रहता है; पर उसका बन कर नहीं, जो आत्म-निग्रह करते हैं, जंगल में रहते हैं और अतृप्त वासनाओं की जुगाली करते रहते हैं वे सच्चे संन्यासी नहीं हैं। जीवन-संग्राम के मध्य डटे रहो। सुप्तावस्था में अथवा एक गुफा के भीतर तो कोई भी शान्त रह सकता है। कर्म के आवर्त और उन्मादन के बीच दृढ़ रहो और केन्द्र ताकि पहुंचो। और यदि तुम केन्द्र पा गये तो फिर तुम्हें कोई विचलित नहीं कर सकता।

- स्वामी विवेकानन्द

(17)

योग के चार मार्ग

— स्वामी विवेकानन्द

हमारी प्रधान समस्या मुक्त होना है। अतएव यह स्पष्ट है कि जब तक हम अपने ब्रह्म होने की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेते, हम मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। इस सिद्धि को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं, इन पद्धतियों का जातीय नाम योग (जोड़ना, अपने को अपनी वास्तविकता से जोड़ना) है। विविध वर्गों में विभक्त इन योगों को मुख्यतया चार में वर्गीकृत किया जा सकता है; और चूंकि प्रत्येक ब्रह्म की सिद्धि का केवल परोक्ष मार्ग है, वे विभिन्न स्वभाव के लोगों के अनुकूल हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्या मनुष्य वास्तविक मनुष्य या ब्रह्म नहीं हो जाता। ब्रह्म को लेकर 'होने' जैसा कुछ नहीं होता। वह सदा मुक्त, सदा पूर्ण है; केवल उस अविद्या से दूर होना है, जिसने संप्रति उसके स्वरूप को आच्छन्न कर रखा है। अतः योग की सभी प्रणालियों (और प्रत्येक धर्म ऐसी ही एक पद्धति का प्रतिनिधि है) का लक्ष्य इस अविद्या को हटाना और आत्मा को अपने स्वरूप की पुनः स्थापना करने देना है। इस मोक्ष में प्रमुख सहायक अभ्यास और वैराग्य हैं। वैराग्य जीवन से अनासक्त होना है, क्योंकि भोग की इच्छा ही अपने साथ बंधनों को लाती है; और अभ्यास योगों में से किसी एक की सतत साधना है।

कर्मयोग : कर्मयोग कर्म के द्वारा मन को शुद्ध करना है। शुभ या अशुभ कर्म किये जाने पर शुभ या अशुभ परिणाम अवश्य उत्पन्न होता है; कारण विद्यमान होने पर कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती। अतएव जब तक शुभ कार्य शुभ कर्म, और अशुभ कार्य अशुभ कर्म उत्पन्न करते रहेंगे, कभी भी मोक्ष प्राप्त कर सकने की आशा से रहित आत्मा शाश्वत बंधनों में पड़ी रहेगी। कर्म केवल शरीर या मन से संबद्ध है, आत्मा से नहीं; वह आत्मा के समक्ष एक पर्दा भर डाल सकता है। अशुभ कर्म द्वारा डाला पर्दा अविद्या है। शुभ कर्म में नैतिक बल को पुष्ट करने की शक्ति है। इस प्रकार वह अनासक्ति को उत्पन्न करता है, अशुभ कर्म के प्रति प्रवृत्ति को नष्ट करता और फलस्वरूप मन को निर्मल करता है। किंतु कर्म यदि मोक्ष की प्रेरणा से किया जाता है, तो वह केवल इस भोग को उत्पन्न करता है, मन या चित्त को शुद्ध नहीं करता। अतएव समस्त कर्म उसके फलों को भोगने की इच्छा से नितान्त मुक्त होकर किया जाना चाहिए। कर्मयोगी के समस्त भय तथा इहलोक या परलोक में भोग की इच्छा को सदा के लिए निकाल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रतिदान

की इच्छा से रहित यह कर्म स्वार्थपरता को नष्ट कर देगा, जो सारे बंधनों की जड़ है। कर्मयोगी का जीवन-मंत्र है 'मैं नहीं, वरन तू', और आत्मोत्सर्ग का कोई भी परिणाम उसके लिए अधिक नहीं होता। किंतु ऐसा वह स्वर्ग जाने, नाम और यश कमाने या इस संसार में कोई अन्य लाभ उपलब्ध कर सकने की इच्छा से नितान्त मुक्त होकर करता है। इस प्रकार के निःस्वार्थ कर्म की व्याख्या और हेतु यद्यपि केवल ज्ञानयोग में ही मिलते हैं, पर मनुष्य की नैसर्गिक दिव्यता, बिना किसी प्रच्छन्न स्वार्थभाव के, दूसरों के हित मात्र के लिए, उसका संप्रदाय या मत जो भी हो, उसे समस्त उत्सर्ग से प्रेम करने के लिए विवश करती है। बहुतेरे लोगों के लिए धन का बंधन बहुत बड़ा होता है, और धन के प्रति प्रेम के आस-पास जम गयी पपड़ी को तोड़ने के निमित्त उनके लिए कर्मयोग परमावश्यक है।

(18)

दूसरा है **भक्तियोग:** भक्ति अथवा पूजा अथवा किसी रूप में प्रेम मनुष्य के लिए सबसे अधिक सरल, सुखद और स्वाभाविक मार्ग है। इस विश्व की नैसर्गिक स्थिति आकर्षण की है; और अनिवार्य रूप से उसका अंत वियोग में होता है। यहां तक कि मानव हृदय में प्रेम मिलन की नैसर्गिक प्रेरणा है; और यद्यपि वह स्वयं क्लेश का एक बड़ा कारण है, सम्यक् पात्र के प्रति सम्यक रूप से निर्दिष्ट होने पर 'वह मुक्ति प्रदान करता है। भक्ति का आलंबन ईश्वर है। प्रेम बिना एक कर्ता और आलंबन के नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रेम का आलंबन पहले एक ऐसा प्राणी होना चाहिए, जो हमारे प्यार का प्रतिदान दे सके। अतएव प्रेम का ईश्वर किसी न किसी अर्थ में एक मानवीय ईश्वर होना चाहिए। वह प्रेम का ईश्वर होना आवश्यक है। ऐसा ईश्वर है या नहीं, इस प्रश्न के बावजूद, यह एक तथ्य है कि जिनके हृदय में प्रेम है, उनके प्रति यह ब्रह्म प्रेम के ईश्वर के रूप में, व्यक्तित्व रूप में प्रकट होता है।

उपासना के वे रूप जो ईश्वर को एक न्यायाधीश, दंड दाता, अथवा भय के कारण जिसकी आज्ञा पालन करना पड़े, ऐसा कुछ समझते हैं, प्रेम कहलाने के पात्र नहीं हैं, यद्यपि ये उपासना के वे रूप हैं, जो शनैः शनैः उच्चतर रूपों में विकसित हो जाते हैं। अब हम स्वयं प्रेम पर विचार करेंगे। प्रेम का प्रतिनिधान हम एक ऐसे त्रिभुज द्वारा प्रस्तुत करेंगे, जिसके आधार का पहला कोण निर्भयता का है। जब तक भय रहता है, प्रेम नहीं होता। प्रेम सारे भय का निराकरण कर देता है। मां अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए एक बाघ का भी सामना करेगी। दूसरा कोण (इस बात का) है कि प्रेम कभी कुछ चाहता नहीं, मांगता नहीं। तीसरा कोण अथवा शीर्ष यह है कि प्रेम स्वयं प्रेम के निमित्त प्रेम करता है। प्रेम ही केवल वह रूप है, जिसमें प्रेम से प्रेम किया जाता है। यह सर्वोच्च अमूर्तीकरण है और यह वही है जो ब्रह्म है।

तीसरा है **राजयोग**: इस योग की संगति इन योगों में प्रत्येक से हो जाती है। आस्थावान या आस्थारहित सभी वर्गों की जिज्ञासाओं से इसकी संगति हो जाती है, और यह धार्मिक जिज्ञासा का यथार्थ उपकरण है। जिस प्रकार हर विज्ञान की अनुसंधान करने की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है, उसी प्रकार राजयोग धर्म की पद्धति है। विविध शरीर-संरचनाओं के अनुरूप इस विज्ञान का व्यावहारिक उपयोग भी विविध होता है। इसके मुख्य अंग प्राणायाम, ध्यान और धारणा हैं। जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं, किसी गुरु से प्राप्त कोई प्रतीकात्मक नाम, जैसे ओ३म् या अन्य पवित्र शब्द इसमें बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। ओ३म् इनमें महानतम है और उसका अर्थ है ब्रह्म। इन पवित्र नामों का जप करते हुए उनके अर्थ की धारणा करना मुख्य अभ्यास है।

चौथा है **ज्ञानयोग**: यह तीन अंगों में विभक्त है। पहला : इस सत्य का श्रवण कि आत्मा ही एकमात्र वास्तविकता है और सब माया (सापेक्षता) है। दूसरा : इस दर्शन पर सभी दृष्टिकोणों से मनन। तीसरा : इसके आगे सारे तर्क-वितर्क को वर्जित करके सत्य की अनुभूति प्राप्त करना। यह अनुभूति इतने प्रकार से प्राप्त होती है; (1) इस बात के निश्चय से कि ब्रह्म ही सत्य है, और सब मिथ्या है; (2) भोग की समग्र इच्छा का त्याग; (3) मन और इन्द्रियों का संयम; (4) मुक्त होने की तीव्र आकांक्षा। इस सत्य की सतत धारणा और आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप का सदैव स्मरण कराते रहना ही इस योग के मार्ग हैं। यह योग सर्वोच्च किंतु कठिनतम है। इसको बुद्धि के द्वारा तो बहुत से लोग ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन उसकी सिद्धि बहुत कम लोग कर पाते हैं। □

योग : कर्मसु कौशल

किसी भी प्रकार के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति कोई छोटा या नीचा काम करता है, वह केवल इसी कारण ऊंचा काम करने वाले की अपेक्षा छोटा या हीन नहीं हो जाता। मनुष्य की परख उसके कर्तव्य की उच्चता या हीनता की कसौटी पर नहीं होनी चाहिए, वरन् यह देखना चाहिए कि वह कर्तव्यों का पालन किस ढंग से करता है। मनुष्य की सच्ची पहचान तो अपने कर्तव्यों को करने की उसकी शक्ति और शैली में होती है। एक मोची, जो कि कम से कम समय में बढ़िया और मजबूत जूतों की जोड़ी तैयार कर सकता है, अपने व्यवसाय में उस प्राध्यापक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो अपने जीवन भर प्रतिदिन थोथी बकवास ही किया करता है।

धर्म की साकार प्रतिमा : परमहंस रामकृष्ण

- डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'

परमहंस रामकृष्ण उस ऊंचाई के मनुष्य थे जहां से सभी धर्म सत्य और सब-के-सब समान दिखते हैं; जहां विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुंचती; जहां धर्म अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक गंध को छोड़ कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्चल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छोटों से ही जन्म-जन्म की तृषा शांत हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है जो जीवन के अंतिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और संत पृथ्वी के वासी थे एवं पृथ्वी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण, दैवी अवतार की भांति आये। पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चल कर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसोफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर परमहंस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पांच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बन कर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियों और संतों की कथाएं सुनी जाती हैं, वे झूठी नहीं हैं।

(19)

रामकृष्ण में आकर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान धर्म की विविध साधनाएं एवं जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि, सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था, किन्तु रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परम्परा ही देह धर कर खड़ी हो गयी।

रामकृष्ण न तो अंग्रेजी जानते थे, न वे संस्कृत के ही जानकार थे, न वे सभाओं में भाषण देते थे, न ही अखबारों में वक्तव्य। उनकी सारी पूंजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नाम स्मरण मात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे, जिसका आदि छोर अतीत की गहराईयों में डूबा हुआ है। और जिसका अंतिम छोर भविष्य के गह्वर

की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हें गुरु पर गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना की दीक्षा उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली जो स्वयं उनकी कुटी में आ गये थे। तंत्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी जो स्वयं घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुँची थीं। इस प्रकार, इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविन्द राय थे जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसाइयत की साधना उन्होंने शम्भुचरण मल्लिक के साथ की थी जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अच्छे जानकार थे। किन्तु, सभी साधनाओं में रम कर धर्म के गूढ़ रहस्यों की छानबीन करते हुए भी काली के चरणों में उनका विश्वास अचल रहा। जैसे अबोध बालक स्वयं अपनी चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नहीं करते थे। जैसे बालक प्रत्येक वस्तु की याचना अपनी मां से करता है, वैसे ही रामकृष्ण भी हर चीज काली से मांगते थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नव युग के मनुष्यों के सामने पोंगा-पंथी कहानी सी लगती है। किन्तु, यह लिखित इतिहास की घटना है। स्वयं तोतापुरी जब दक्षिणेश्वर आये, तब रामकृष्ण में कुछ अलभ्य लक्षण देखकर उन्होंने सहसा कहा था, “क्या तू अद्वैत की साधना करेगा?” रामकृष्ण बोले, “मैं कुछ नहीं जानता। माता से पूछ कर अभी आता हूँ। यदि उन्होंने आज्ञा दी तो अवश्य करूँगा।” तोतापुरी ने समझा, इसकी सचमुच की कोई मां होगी। किन्तु, रामकृष्ण जब मंदिर में जाकर लौट आये और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान् आश्चर्य हुआ कि कोरी प्रतिमा में इसकी ऐसी अटल आस्था है।

हिन्दू-धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, परमहंस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। उनकी इन्द्रियां पूर्णरूप से उनके वश में थीं। रक्त और मांस के तकाजों का उनपर कोई असर न था। सिर से पांव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ-चिन्तन में निरत रहते थे। सांसारिक सुख-समृद्धि, यहां तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई मूल्य नहीं था।

कंचन से विरक्ति

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यंत्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्श-मात्र से उसमें विचित्र प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होने लगती थीं। रुपये, पैसे, सोने-चांदी आदि का स्पर्श वे सह नहीं सकते थे और यह कोई बहानेबाजी या ढोंग नहीं था। विवेकानन्द होने के पूर्व, नरेन्द्र दत्त बड़े ही शंकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खींच रहे थे और वे बार-बार उनसे भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नहीं छूते और द्रव्य के स्पर्श मात्र से उन्हें पीड़ा होने लगती है, इस बात की जांच करने के लिए उन्होंने एक

दिन, चोरी-चोरी, परमहंस जी के बिस्तर के नीचे एक रुपया छिपा दिया। रामकृष्ण लौट कर जो बिस्तर पर बैठे तो उन्हें ऐसा लगा, मानो, बिच्छू ने डंक मार दिया हो और वे उचक कर खड़े हो गये। लोगों ने चारों ओर देखा, मगर कहीं भी कोई चीज नहीं थी। निदान, उन्होंने बिस्तर हटा कर नीचे देखा तो क्या देखते हैं कि उसके नीचे एक रुपया पड़ा है। सब लोग अकचकाये हुए थे। केवल नरेन्द्र अचरज के मारे गंभीर थे। रामकृष्ण उनकी शैतानी को लख गये और बोले, “ठीक है रे; गुरु की जांच भी भर कर लेनी चाहिए।”

द्रव्य के प्रति यह वितृष्णा उनमें बढ़ती ही गयी। अन्त समय तो ऐसा हो गया कि हाथ में कपड़ा लपेटे बिना वे कांसे के बरतन को भी नहीं छू सकते थे। निदान, उनका खान-पान मिट्टी के ही बरतनों में चलने लगा था।

कामिनी के प्रति अनासक्ति

रामकृष्ण एक ऐसे संन्यासी हुए हैं जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे। गृह-त्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था और सच पूछिये तो विधिवत् उन्होंने गृह-त्याग किया भी नहीं था क्योंकि सिद्धावस्था आने पर भी वे अपने गांव गये और वहां अपने परिवार के साथ वैसे ही घुल-मिल कर रहे, जैसे गृहस्थ को रहना चाहिए। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आन मिलीं एवं परमहंसजी ने उन्हें अपने साथ रखने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। उनकी माता वहीं दक्षिणेश्वर मठ के नौबतखाने में रहती थीं। उन्हीं के पास रामकृष्ण का जीवन चरित है, उससे अच्छा जीवन-चरित मैंने और नहीं देखा। वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एवं उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमें लिखा है कि “एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी ने (रामकृष्ण की पत्नी ने) उनसे एकाएक पूछा, “मुझको आप कौन समझते हैं?” श्रीरामकृष्ण बोले, “जो माता उस काली मंदिर में है, वही इस शरीर को जन्म देकर अभी नौबतखाने में निवास करती हैं और वहीं यहां पर इस समय मेरे पैर दबा रही हैं। तू मुझे, सचमुच ही सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखायी देती है।”

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव-शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही चाहे तो, त्याग का भी पावन यंत्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होंने अभ्यास से सीखा था, किन्तु अभ्यास के क्रम में उन्हें द्वंद्वों का सामना करना नहीं पड़ा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे पुण्य की ओर संकल्प मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है कि “एक दिन अपनी

पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देखकर अपने मन को सम्बोधन करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, “अरे मन, इसी को स्त्री शरीर कहते हैं सारा संसार इसी को परम भोग्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रह कर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु इसके ग्रहण करने से देहासक्ति में सदा के लिए फंस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असंभव हो जाता है। हे मन, सच-सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख। तुझे यह शरीर चाहिए कि ईश्वर चाहिए? यह शरीर चाहिए तो यह देख, यह यहां तेरे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण कर। ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्यों ही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करने वाले थे कि उनका मन कुण्ठित होकर उन्हें गहरी समाधि लग गयी और रात भर उन्हें देह की सुधि न रही।” अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, “वहीं (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती तो हमारे संयम का बांध टूट कर मन में देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है?”

नानक और कबीर, ये भी विवाहित थे और पत्नी के साथ रहकर ही उन्होंने धर्म की सिद्धि की थी। इनमें से काम पर किस की क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं है। हां, कबीर का एक दोहा चलता है-

**नारी तो हमहुं करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तब परिहरी, नारी महाविकार।**

किन्तु, रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नहीं की। अपनी पत्नी की तो उन्होंने प्रशंसा ही की है। हां, काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और उनका भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक-दूसरे से अलग रहकर भी अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था, “उन दिनों तो मुझे स्त्रियों से डर लगता था।... अब वह अवस्था नहीं रही। अब मैंने मन को बहुत कुछ सिखा-पढ़ा कर इतना कर लिया कि स्त्रियों की ओर आनन्दमयी माता के भिन्न-भिन्न रूप जानकर देखा करता हूं। तो भी, यद्यपि स्त्रियां जगदम्बा के ही अंश हैं, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही हैं।”

कामिनी और कांचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से कौन कहां तक बचता है, यही वह कसौटी है जिस पर भारतीय महापुरुषों की जांच होती आयी है। रामकृष्ण इस कसौटी पर खरे उतरे। उन्होंने पत्नी को अपने साथ रहने दिया, उन्हें अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ाया, इससे यह भी प्रकट होता है कि नारियों के प्रति उनके मन में कोई घृणा या द्वेष नहीं था।

तर्क बनाम अनुभूति

रामकृष्ण के अद्भुत गुणों से आकृष्ट होकर तत्कालीन बड़े-बड़े तार्किक और विद्वान उन्हें घेरे रहते थे। इनमें से ऐसे नवयुवक भी थे जो नास्तिक थे, जो शंकालु थे, जो साधु-संतों के चमत्कारों को ढोंग समझते थे। किन्तु, रामकृष्ण के सामने शंकाओं के उठने या टिकने का सवाल ही नहीं था। न तो वे चमत्कार दिखा कर लोगों को प्रभावित करते थे, न किसी से आस्तिकता-नास्तिकता को लेकर विवाद। उनका जीवन उन्मुक्त ग्रंथ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नहीं कह कर अपने आचरणों से बताते थे। फिर आंखों-देखी बात पर शंका होती क्यों?

वे प्रायः अपढ़ मनुष्य थे, किन्तु साधना के बल से वे उस मूल उत्स पर पहुंच गये थे जहां से सभी ज्ञान उठ कर ऊपर आते हैं, जहां से दर्शनों की उत्पत्ति और धर्मों का जन्म होता है। इसलिए, उनके उपदेश विद्वान और अविद्वान सभी के लिए ग्राह्य हैं। □

(21)

शिक्षा

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र हैं? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन हैं? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी दर पीढ़ी रोककर प्रायः नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दो, पुराने विचार भी एक एक करके लोप होते चल जा रहे हैं; क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे धीरे यंत्र बना रही है? जो स्वयं चालित यंत्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतंत्रा इच्छा-शक्ति और बुद्धि के बल से अनुचित कर्म करने वाला मेरे विचार से श्रेयस्कर है। जो मनुष्य मिट्टी के पुतले, निर्जीव यंत्र या पत्थरों के ढेर के सदृश हों, क्या उनका समूह समाज कहला सकता है? इस प्रकार का समाज कैसे उन्नत हो सकता है? यदि इस प्रकार कल्याण सम्भव होता, तो सैकड़ों वर्षों के दास होने के बदले हम पृथ्वी के सबसे प्रतापी राष्ट्र होते, और यह भारत मूर्खता की खान होने के बदले, विद्या के अनन्त स्रोत का उत्पत्ति स्थान होता।

हिंदू धर्म

- स्वामी विवेकानन्द

प्रागैतिहासिक युग से चले आने वाले केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान हैं—हिन्दू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म। उनको अनेकानेक प्रचंड आघात सहने पड़े हैं, किन्तु फिर भी जीवित बने रहकर वे अपनी आंतरिक शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पर जहां हम यह देखते हैं कि यहूदी धर्म ईसाई धर्म को आत्मसात् नहीं कर सका, वरन् अपनी सर्वविजयिनी दुहिता-ईसाई धर्म-द्वारा अपने जन्म स्थान से निर्वासित कर दिया गया, और केवल मुट्ठी भर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिए अब शेष बचे हैं, वहां भारत में एक के बाद एक न जाने कितने संप्रदायों का उदय हुआ और उन्होंने वैदिक धर्म को जड़ से हिला दिया; किन्तु भयंकर भूकंप के समय समुद्रतट के जल के समान वह कुछ समय पश्चात् हजार गुना बलशाली होकर सर्वग्रासी आप्लावन के रूप में पुनः लौटने के लिए पीछे हट गया; और जब यह सारा कोलाहल शांत हो गया, तब इन समस्त धर्म-संप्रदायों को उनकी धर्ममाता (हिंदू धर्म) की विराट् काया ने चूस लिया, आत्मसात् कर लिया और अपने में पचा लिया।

हिंदू जाति ने अपना धर्म श्रुति-वेदों से प्राप्त किया है। उसकी धारणा है कि वेद अनादि और अनंत हैं। श्रोताओं को संभव है, यह बात हास्यास्पद लगे कि कोई पुस्तक अनादि और अनंत कैसे हो सकती है। किन्तु वेदों का अर्थ कोई पुस्तक है ही नहीं। वेदों का अर्थ है, भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्त्यों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत मनुष्यों के पता लगने से पूर्व भी अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्यजाति उसे भूल जाए, तो भी वह नियम अपना काम करता रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् का पालन करने वाले नियमों के संबंध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और जीवात्मा का आत्माओं के परम पिता के साथ जो नैतिक तथा आध्यात्मिक संबंध है, वे उनके आविष्कार के पूर्व भी थे और हम यदि उन्हें भूल भी जाएं, तो बने रहेंगे।

इन नियमों या सत्त्यों का आविष्कार करने वाले ऋषि कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व तक पहुंची हुई आत्मा मानकर सम्मान देते हैं। श्रोताओं को यह बतलाते हुए मुझे हर्ष होता है कि इन महानतम ऋषियों में कुछ स्त्रियां भी थीं।

यहां यह कहा जा सकता है कि ये नियम, नियम के रूप में अनंत भले ही हैं, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिए। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का न आदि है न अंत। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समग्र विश्व की सारी ऊर्जा-समष्टि का परिमाण सदा एक सा रहता है। तो फिर, यदि ऐसा कोई समय था, जब कि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह संपूर्ण ऊर्जा कहां थी? कोई कोई कहता है कि ईश्वर में ही वह सब अव्यक्त रूप में निहित थी। तब तो ईश्वर कभी अव्यक्त और कभी व्यक्त है; इससे तो वह विकारशील हो जाएगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ यौगिक होता है और हर यौगिक पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यभावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जाएगी, जो अनर्गल है, अतः ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी।

(22)

आत्मा की सृष्टि नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है, भिन्न भिन्न द्रव्यों का संघात, और इस संघात का भविष्य में विघटन अवश्यभावी है। अतएव यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनंद भोगते हैं, उन्हें सुंदर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियां प्राप्त रहती हैं। दूसरे कुछ लोग जन्म से ही दुःखी होते हैं, किसी के हाथ या पांव नहीं होते, तो कोई मूर्ख होते हैं, और येन केन प्रकारेण अपने दुःखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर ने उत्पन्न किये हों, तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? ईश्वर ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर ऐसा मानने से बात नहीं सुधर सकती कि जो वर्तमान जीवन में दुःखी है, भावी जीवन में पूर्ण सुखी रहेंगे। न्यायी और दयालु ईश्वर के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहे?

दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को मान्यता देने वाला सिद्धांत वैषम्य की कोई व्याख्या नहीं करता, बल्कि वह तो केवल एक सर्वशक्तिमान् पुरुष का निष्पूर आदेश ही प्रकट करता है। अतएव इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिए, जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी या दुःखी हुआ करते हैं और ये कारण हैं, उसके ही पुनर्निष्ठित कर्म।

हिंदू का यह विश्वास है, कि वह आत्मा है। 'उसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती।'—गीता॥2.23॥

हिंदुओं की यह धारणा है कि आत्मा का ऐसा वृत्त है, जिसकी कोई परिधि नहीं है, किन्तु जिसका केंद्र शरीर में अवस्थित है, और मृत्यु का अर्थ है, इस केंद्र का एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानांतरित हो जाना। यह आत्मा जड़ की उपाधियां से बद्ध नहीं है। वह स्वरूपतः नित्य-शुद्ध-मुक्तस्वभाव है। परंतु किसी कारण से वह अपने को जड़ से बंधी हुई पाती है, और अपने को जड़ ही समझती है।

अब दूसरा प्रश्न है कि यह विशुद्ध, पूर्ण और विमुक्त आत्मा इस प्रकार जड़ का दासत्व क्यों करती है? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्ण होने का भ्रम कैसे हो जाता है? हमें यह बताया जाता है कि हिंदू लोग इस प्रश्न से कतरा जाते हैं और कह देते के ऐसा प्रश्न हो ही नहीं सकता। कुछ विचारक पूर्णप्राय सत्ताओं की कल्पना कर लेते हैं और इस रिक्त को भरने के लिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक नामों का प्रयोग करते हैं। परन्तु नाम दे देना व्याख्या नहीं है। प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहता है। पूर्ण ब्रह्म पूर्णप्राय अथवा अपूर्ण कैसे हो सकता है; शुद्ध, निरपेक्ष ब्रह्म अपने स्वभाव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भर भी परिवर्तित कैसे कर सकता है? पर हिंदू ईमानदार हैं। वह मिथ्या तर्क का सहारा नहीं लेना चाहता। पुरुषोचित रूप में इस प्रश्न का सामना करने का साहस वह रखता है, और इस प्रश्न का उत्तर देता है, "मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता कि पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण कैसे समझने लगी, जड़ पदार्थों के संयोग से अपने को जड़नियमाधीन कैसे मानने लगी।"

पर इस सबके बावजूद तथ्य जो है, वही रहेगा। यह सभी की चेतना का एक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को शरीर मानता है। हिंदू इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं करता कि मनुष्य अपने को शरीर क्यों समझता है। 'यह ईश्वर की इच्छा है', यह उत्तर कोई समाधान नहीं है। यह उत्तर हिंदू के 'मैं नहीं जानता' के सिवा और कुछ नहीं है।

अतएव मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनंत है, और मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केंद्र-परिवर्तन। एक वैदिक ऋषि को अंतःस्फूर्ति प्राप्त हुई और उसने संसार के सामने खड़े होकर तूर्यस्वर में इस आनंद संदेश की घोषणा की: 'हे अमृत के पुत्रों ! सुनो! हे दिव्यधामवासी देवगण!! तुम भी सुनो! मैंने उस अनादि, पुरातन पुरुष को प्राप्त कर लिया है, समस्त अज्ञान-अंधकार

और माया से परे है। केवल उस पुरुषको जानकर ही तुम मृत्यु के चक्र से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं।'—श्वेताश्वतरोपनिषद्॥2.7, 3-8॥

'अमृत के पुत्रों—कैसा मधुर और आशा जनक संबोधन है यह! बंधुओं! इसी मधुर नाम-अमृत के अधिकारी से-आपको संबोधित करूं, आप इसकी आज्ञा मुझे दे। निश्चय ही हिंदू आपको पापी कहना अस्वीकार करता है। आप ईश्वर की संतान हैं, अमर आनंद के भागी हैं, पवित्र और पूर्ण आत्मा हैं, आप इस मर्त्यभूमि पर देवता है। आप भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव स्वरूप पर घोर लांछन है। आप उठें! हे सिंहो ! आएँ, और इस मिथ्या भ्रम को झटक कर दूर फेंक दें की आप भेड़ हैं। आप हैं आत्मा अमर, आत्मा मुक्त, आनंदमय और नित्य! आप जड़ नहीं हैं; आप शरीर नहीं हैं; जड़ तो आपका दास है, न कि आप है। जड़ के दास।

(23)

अतः वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय निर्मम विधानों का संघात है, और न यह कि वह कार्य-कारण की अनंत कारा है, वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़त्व और शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणु में ओतप्रोत वही एक विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर नाचती है।'—कठोपनिषद्॥2.3.3॥ और उस पुरुष का स्वरूप क्या है?

वह सर्वत्र है, शुद्ध, निराकार, सर्वशक्तिमान, है, सब पर उसकी पूर्ण दया है। 'तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमास्पद सखा है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है, हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करने वाला है, तू मुझे इस जीवन के क्षुद्र भार को वहन करने में सहायता दे।' वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस प्रकार करें? प्रेम के द्वारा। 'ऐहिक तथा भौतिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए।'

वेद हमें प्रेम के संबंध में इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं। अब देखें कि श्रीकृष्ण ने, जिन्हें हिंदू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के सिद्धांत का पूर्ण विकास किस प्रकार किया है और हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिए। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए—उसका हृदय ईश्वर में लगा रहे और हाथ कर्म में लगे रहें।

वेद कहते हैं कि आत्मा दिव्यस्वरूप हैं, वह केवल पंचभूतों के बंधन में बंध गयी हैं और उन बंधनों के टूटने पर वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेंगीं। इस अवस्था का नाम मुक्ति हैं, जिसका अर्थ हैं स्वाधीनता-अपूर्णता के बंधन से छुटकारा, जन्म-मृत्यु से छुटकारा।

और यह बंधन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता हैं और वह दया पवित्र लोगों को ही प्राप्त होती हैं। अतएव पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय हैं। उसकी दया किस प्रकार काम करती हैं? वह पवित्र हृदय में अपने को प्रकाशित करता हैं। पवित्र और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता हैं। 'तब उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे संदेह दूर हो जाते हैं।'—मुण्डकोपनिषद्।12.2.8॥

तब वह कार्य-कारण के भयावह नियम के हाथ खिलौना नहीं रह जाता। यही हिंदू धर्म का मूलभूत सिद्धांत हैं—यही उसका अत्यंत मार्मिक भाव हैं। हिंदू शब्दों और सिद्धांतों के जाल में जीना नहीं चाहता। यदि इन साधारण इंद्रिय-संवेद्य विषयों के परे और भी कोई सत्ताएं हैं, तो वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता हैं। यदि उसमें कोई आत्मा हैं, जो जड़ वस्तु नहीं हैं, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी विश्वात्मा हैं, तो वह उसका साक्षात्कार करेगा। वह उसे अवश्य देखेगा और मात्र उसी से समस्त शंकाएं दूर होंगीं। अतः हिंदू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता हैं : 'मैंने आत्मा का दर्शन किया हैं; मैंने ईश्वर का दर्शन किया हैं।' और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त हैं। हिंदू धर्म भिन्न भिन्न मत-मतांतरों या सिद्धांतों पर विश्वास करने के लिए संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं हैं, वरन् वह साक्षात्कार हैं, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं है, वह होना और बनना हैं।

इस प्रकार हिंदुओं की सारी साधना प्रणाली का लक्ष्य हैं—सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उसके दर्शन कर लेना, उस स्वर्गस्य पिता के समान पूर्ण जाना—हिंदुओं का धर्म हैं।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता हैं, तब क्या होता हैं? तब वह असीम परमानंद का जीवन व्यतीत करता हैं। जिस प्रकार एकमात्र वस्तु में मनुष्य को सुख पाना चाहिए, उसे अर्थात् ईश्वर को पाकर वह परम तथा असीम आनंद का उपभोग करता हैं और ईश्वर के साथ भी परमानंद का आस्वादन करता हैं। यहां तक सभी हिंदू एकमत हैं। भारत के विविध संप्रदायों का यह सामान्य धर्म हैं। परंतु पूर्ण निरपेक्ष होता हैं, और निरपेक्ष दो या तीन नहीं हो सकता। उसमें कोई गुण नहीं हो

सकता, वह व्यक्ति नहीं हो सकता। अतः जब आत्मा पूर्ण और निरपेक्ष हो जाती हैं, और वह ईश्वर के केवल अपने स्वरूप की पूर्णता, सत्यता और सत्ता के रूप में—परम् सत्, परम् चित्, परम् आनंद के रूप में प्रत्यक्ष करती हैं। इसी साक्षात्कार के विषय में हम बारंबार पढ़ा करते हैं कि उसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता प्राप्त करता हैं या पत्थर के समान बन जाता हैं।

विज्ञान एकत्व की खोज के सिवा और कुछ नहीं हैं। ज्यों ही कोई विज्ञान पूर्ण एकता तक पहुंच जाएगी, त्यों ही उसकी प्रगति रूक जाएगी; क्योंकि तब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। उदाहरणार्थ, रसायनशास्त्र यदि एक बार उस मूलतत्व का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह आगे नहीं बढ़ सकेगा। भौतिक शास्त्र जब उस मूल शक्ति का पता लगा लेगा, अन्य शक्तियां जिसकी अभिव्यक्ति हैं, तब वह रुक जाएगा। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, जब वह उसको खोज लेगा, जो इस मृत्यु के उस लोक में एकमात्र जीवन हैं, जो इस परिवर्तनशील जगत् का शाश्वत आधार हैं, जो एकमात्र परमात्मा हैं, अन्य सब आत्माएं जिसकी प्रतीयमान अभिव्यक्तियां हैं। इस प्रकार अनेकता और द्वैत में से होते हुए इस परम अद्वैत की प्राप्ति होती हैं। धर्म इससे आगे नहीं जा सकता। यही समस्त विज्ञानों का चरम लक्ष्य हैं।

(24)

समग्र विज्ञान अंततः इसी निष्कर्ष पर अनिवार्यतः पहुंचेंगे। आज विज्ञान का शब्द अभिव्यक्ति हैं, सृष्टि नहीं; और हिंदू को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हैं कि जिसको वह अपने अंतस्तल में इतने युगों से महत्व देता रहा हैं, अब उसी की शिक्षा अधिक सशक्त भाषा में विज्ञान के नूतनतम निष्कर्षों के अतिरिक्त प्रकाश में दी जा रही हैं।

अब हम दर्शन की अभीप्साओं से उतरकर ज्ञानरहित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। यह मैं प्रारंभ में ही आपको बता देना चाहता हूं कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं हैं। प्रत्येक मंदिर में यदि कोई खड़ा होकर सुने, तो यही पाएगा कि भक्तगण सर्वव्यापित्व आदि ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं हैं, और न एकदेववाद से ही इस स्थिति की व्याख्या हो सकती हैं। 'गुलाब को चाहे दूसरा कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाए, पर वह सुगंधि तो वैसी ही मधुर देता रहेगा।' नाम ही व्याख्या नहीं होती ।

अंधविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु हैं, पर धर्माधता तो उससे भी बढ़कर हैं। ईसाई गिरजाघर क्यों जाता हैं? क्रूस क्यों पवित्र हैं? प्रार्थना के समय आकाश की ओर

मुंह क्यों किया जाता है? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियां क्यों रखा करती हैं? प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के मन में प्रार्थना के समय इतनी मूर्तियां क्यों रखा करती हैं? मेरे भाइयों ! मन में किसी मूर्ति के आए कुछ सोच सकना उतना ही असंभव है, जितना श्वास लिये बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है, अथवा मन में भाव विशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसलिए तो हिंदू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलाएगा कि वह बाह्य प्रतीक उसके मन को ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रखने में सहायता देता है। वह भी यह बात उतनी ही अच्छी तरह से जानता है, जितना आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिए तो दुनिया के लोग 'सर्वव्यापीत्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? यदि नहीं, तो जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या देश की ही कल्पना करने के सिवा हम और क्या करते हैं?

अपनी मानसिक संरचना के नियमानुसार, हमें किसी प्रकार अपनी अनंतता की भावना को नील आकाश या अपार समुद्र की कल्पना से संबंध करना पड़ता है, उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभावनुसार गिरजाघर या मस्जिद या क्रूस से जोड़ लेते हैं। हिंदू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावों का संबंध विभिन्न मूर्तियों और रूपों से जोड़ते हैं? अंतर यह है कि जहां अन्य लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धांतों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर लें और अपने मानवबंधुओं की भलाई करते रहें-वहां एक हिंदू की सारी धर्मभावना प्रत्यक्ष अनुभूति या आत्मसाक्षात्कार में केंद्रीभूत होती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्तियां, मंदिर, गिरजाघर या ग्रंथ तो धर्मजीवन में केवल आधार या सहायकमात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।

मनुष्य को कहीं पर रुकना नहीं चाहिए। शास्त्र का वाक्य है कि 'बाह्य पूजा या मूर्तिपूजा सबसे नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सबसे उच्च अवस्था तो वह है, जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाए।'—महानिर्वाणतंत्र ॥4.12॥

अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है, और हिंदुओं ने इसे स्वीकार किया है। अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया गया है। वह समाज के समाने केवल एक कोट रख देता है, जो जैक, जॉन और हेनरी, सभी को ठीक होना चाहिए। यदि जॉन या हेनरी के शरीर में ठीक नहीं आता, तो उसे अपना तन ढंकने के लिए बिना कोट के ही रहना होगा। हिंदुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार, चिंतन या वर्णन सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है, और मूर्तियां, क्रूस या नवोदित चंद्र केवल विभिन्न प्रतीक हैं, वे मानो बहुत सी खूंटियां हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएं लटकायी जाती हैं। ऐसा नहीं है कि इन प्रतीकों की आवश्यकता हर एक के लिए हो, किंतु जिनको अपने लिए इन प्रतीकों की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं है कि वे गलत हैं। हिंदू धर्म में वे अनिवार्य नहीं हैं।

ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केंद्रित करने वाला हिंदू अज्ञेयवादी बौद्ध और निरीश्वरवादी जैन धर्म पर कैसे श्रद्धा रख सकता है?

(25)

यद्यपि बौद्ध और जैन ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, तथापि उनके धर्म की पूरी शक्ति प्रत्येक धर्म के महान् केंद्रिय सत्य-मनुष्य में ईश्वरत्व-के विकास की ओर उन्मुख हैं। उन्होंने पिता को भले न देखा हो, पर पुत्र को अवश्य देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया, उसने पिता को भी देख लिया।

भाईयों! हिंदुओं के धार्मिक विचारों की यहीं संक्षिप्त रूपरेखा है। हो सकता है कि हिंदू अपनी सभी योजनाओं को कार्यान्वित करने में असफल रहा हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा, वह उस असीम ईश्वर के सदृश ही असीम होगा, जिसका वह उपदेश देगा; जिसका सूर्य श्रीकृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, संतों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाश विकीर्ण करेगा, जो न तो ब्रह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न इस्लाम, वरन् इन सब की समष्टि होगा, किंतु फिर भी जिसमें विकास के लिए अनंत अवकाश होगा; जो इतना उदार होगा कि पशुओं के स्तर से सिंचित उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गये हैं कि उच्चतम मनुष्य तक को, जिसके प्रति सारा समाज श्रद्धामत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने में संदेह करते हैं, अपनी बाहुओं से आलिंगन कर सकें और उनमें सब को स्थान दे सकें। धर्म ऐसा होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़ित या असहिष्णुता का स्थान नहीं होगा; वह प्रत्येक स्त्री और पुरुष

में दिव्यता का स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल और सामर्थ्य मानवता को अपनी सच्ची दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केंद्रित होगा।

आप ऐसा ही धर्म सामने रखिए, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जाएंगे। सम्राट् अशोक की परिषद् बौद्ध परिषद् थी। अकबर की परिषद् अधिक उपर्युक्त होती हुई भी, केवल बैठक की ही गोष्ठी थी। किंतु पृथ्वी के कोने कोने में यह घोषणा करने का गौरव अमेरिका के लिए ही सुरक्षित था कि 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर हैं।'

वह, जो हिंदुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुर्मन्द, बौद्धों का बुद्ध, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता हैं, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे ! नक्षत्र पूर्व गगन में उदित हुआ और कभी धुंधला और कभी देदीप्यमान होते हुए धीरे धीरे पश्चिम की ओर यात्रा करते-करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब फिर प्राची के क्षितिज में सहस्र गुनी अधिक ज्योति के साथ उदित हो रहा हैं। □

श्री राम परमात्मा हैं

सीता जीवात्मा और प्रत्येक स्त्री या पुरुष का शरीर लंका है। जीवात्मा जो कि शरीर में बद्ध है, या लंकाद्वीप में बंदी है, वह सदा परमात्मा श्री राम से मिलना चाहती हैं। लेकिन राक्षस यह होने नहीं देते। और ये राक्षस चरित्र के कुछ गुण हैं। जैसे विभीषण सत्व गुण है; रावण, रजोगुणः कुम्भकर्ण, तमोगुण। सत्त्व गुण का अर्थ है अच्छाई; रजोगुण का अर्थ है लोभ और वासना; तमोगुण में अंधकार, आलस्य, तृष्णा, ईर्ष्या आदि विकार आते हैं। ये गुण शरीररूपी लंका में बन्दिनी सीता को यानी जीवात्मा को परमात्मा श्री राम से मिलने नहीं देते। सीता जब बन्दिनी होती हैं, और अपने स्वामी से मिलने के लिए आतुर रहती हैं, उन्हें हनुमान या गुरु मिलते हैं, जो ब्रह्मज्ञानरूपी मुद्रिका उन्हें दिखाते हैं और उसको पाते ही सब भ्रम नष्ट हो जाते हैं; और इस प्रकार से सीता श्री राम से मिलने का मार्ग पा जाती हैं, या दूसरे शब्दों में जीवात्मा परमात्मा में एकाकार हो जाती है।
-स्वामी विवेकानन्द

कुशल व सफल प्रबन्धक स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त

- किशोर अग्रवाल

आज किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक सुगमता के साथ करने के लिये मैनेजरों (प्रबन्धकों) की आवश्यकता होती है। समाज में किसी भी क्षेत्र में कार्य करने के लिये कुशल व उत्कृष्ट प्रबन्धकों की मांग दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कुशल व उत्कृष्ट प्रबन्धकों के स्रोत आई.आई.एम. है तथा आज पूरे देश में अनेक निजी संस्थान भी खुल चुके हैं जो मैनेजरों को प्रशिक्षण देकर उन्हें प्रबन्धन के सिद्धान्त पढ़ाते हैं। मैनेजर अपनी कार्यकुशलता के बल पर बड़े से बड़े कार्य को तथा बड़ी बड़ी कम्पनियों तथा निजी व सार्वजनिक उपक्रमों को बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से कम लागत में कम समय में करने में सक्षम होते हैं। प्रबन्धकों में यह योग्यता व कार्यकुशलता कुछ निश्चित गुणों के कारण पैदा होती है जिसके लिये वे प्रबन्धन के कुछ निश्चित सिद्धान्त व मापदण्डों को अपने जीवन में उतारते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने लगभग 125 वर्ष पूर्व जो सिद्धान्त या मूल मंत्र जनसाधारण के समक्ष रखे थे उनको अपना कर कोई भी व्यक्ति एक कुशल, सफल व उत्कृष्ट प्रबन्धक बन सकता है। आइये स्वामी विवेकानन्द के कुछ सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करें:-

(26)

'उत्तिष्ठत जागृत'—उठो ! जागो ! लक्ष्य पर पहुंचने से पहले रुको नहीं।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि उठो और जागो अर्थात् निष्क्रियता त्याग कर उठ खड़े हो तथा कर्म करने के लिये लक्ष्य निर्धारित कर उस पर चल पड़ो जब तक तुम्हें तुम्हारा लक्ष्य प्राप्त न हो जाये तब तक कार्य को बीच में अधूरा मत छोड़ो। इसके लिये अपने मन में लक्ष्य प्राप्ति के लिये दृढ़ संकल्प धारण करें। दृढ़ संकल्प ही तुम्हें तुम्हारे मार्ग में आने वाली विघ्न बाधाओं से पार कराने में सहायक होगा। समस्यायें और बाधायें सदैव ही जीवन का अंग रहेगी जो इनसे भयभीत होकर रूक गया अपने लक्ष्य से भटक गया उसे कभी भी मंजिल नहीं मिल सकती। जे.आर.डी. टाटा ने कहा था—“गहरी सोच और मेहनत के बगैर कुछ भी मूल्यवान हासिल नहीं किया जा सकता।”

अतः कुशल प्रबन्धक को लक्ष्य निर्धारित कर योजना बनाकर कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये तथा किसी भी कार्य को अपेक्षित परिणाम प्राप्त होने तक बीच में नहीं छोड़ना चाहिये।

मानव सेवा की ईश्वर सेवा है—स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे दिव्य सन्यासी थे जो कर्म करने के साथ गरीब दुखी और पीड़ितों की सेवा को ईश्वर की आराधना से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका जन्म ही दीन दुखियों की सेवा और उसकी पीड़ा हरने के लिये हुआ था। उनका कहना था कि दूसरों की सेवा के लिये किये गये निःस्वार्थ कर्म से हमारे तन मन शुद्ध होकर हमें ईश्वर की ओर ले जाते हैं। की भलाई और सेवा करना एक महान सर्वलौकिक धर्म है।

एक कुशल प्रबन्धक जिस कम्पनी के लिये कार्य करता है यदि वह समाज के निर्बलतम वर्ग की सेवार्थ कार्य करता है तो वह समाज से जुड़ता चला जाता है जिससे उस कम्पनी का विकास व लाभ में वृद्धि चमत्कारिक ढंग से होती है। आज अनेक भारतीय उद्योगपति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के उद्देश्य से सामाजिक कल्याण व सेवा के कार्यों में रूचि ले रहे हैं। एक नहीं अनेक उदाहरण हैं जो मानव सेवा को ईश्वर की सेवा मानकर जीवन भर कार्य करते हैं। जे.आर. डी. टाटा, बाबा आमटे, राजेन्द्र सिंह, जी.डी. बिरला, महात्मा गांधी आदि अनेक महापुरुषों ने अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। 'मानव सेवा ही ईश्वर की सेवा है' को अपने जीवन में अपना कर एक कुशल प्रबन्धक को तीन फायदे होते हैं। (1) कर्मचारियों का उच्च चारित्रिक विकास होता है। (2) समाज में उसकी लोकप्रियता बढ़ती है। (3) कम्पनी का विकास होता है तथा कम्पनी की आय में वृद्धि होती है।

प्रयत्न करते रहो-

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—“जो कर चुके, सो कर चुके। अनुताप मत करो। तुम किसी भी कर्म के फल को नष्ट नहीं कर सकते, फल अवश्य प्राप्त होगा। अतएवं साहसी होकर उसके सम्मुख डटे रहो, किन्तु सावधान, दुबारा वैसा कार्य मत करना।” स्वामी विवेकानन्द का यह संदेश यह शिक्षा देता है कि यदि किसी कार्य में बार बार असफलता मिल रही है तो भी अपने प्रयास बन्द मत करो केवल यह देखो कि तुमसे क्या कमी रह गई या क्या गलती हो गई, उसे बिना दोहराये प्रयास करते रहो तुम्हें तुम्हारा लक्ष्य अवश्य ही प्राप्त होगा। गलतियों को अपना शिक्षक मानकर आगे बढ़ते रहो। अब्राहम लिंकन तीन दशकों तक अनेक बार असफल हुये और उन्हें अनेक दुख और अवरोधों का सामना करना पड़ा किन्तु उन्होंने पराजय

स्वीकार नहीं की और अन्ततः 1860 में अमेरिका के राष्ट्रपति बने। इसी सिद्धान्त को अपना कर राइट बन्धुओं ने हवाई जहाज बनाने में सफलता प्राप्त की। थामस अल्वा एडिसन ने विद्युत बल्ब की खोज कर मानव को विकास के ऐसे पथ पर अग्रसर किया जिसने जीवन के अर्थ ही बदल डाले। थामस अल्वा एडिसन ने कहा था—“मैं यह नहीं कहूंगा कि मैं 1000 बार असफल रहा, मैं कहूंगा कि मैंने ऐसे 1000 मार्ग खोजे हैं जो असफलता की ओर ले जाते हैं।”

एक उत्कृष्ट प्रबन्धक को यह ध्यान रखना होगा कि यदि वह असफलता से भयभीत होकर रूक गया या कार्य को बीच में छोड़ बैठा तो वह कभी भी सफलता के शिखर तक नहीं पहुंच सकेगा।

संकटों से भागो मत उनका सामना करो-

स्वामी विवेकानन्द का सम्पूर्ण जीवन संकटों से घिरा रहा किन्तु उन्होंने कभी भी हार नहीं मानी तथा अन्त तक लक्ष्य प्राप्ति के लिये संघर्षरत रहे। एक बार वाराणसी में दुर्गा मन्दिर से लौटते समय बन्दरों का एक झुण्ड स्वामी जी के पीछे पड़ गया। स्वामी जी भागने लगे लेकिन बन्दरों ने पीछा नहीं छोड़ा। तभी एक वृद्ध ने कहा कि भागो मत इनका सामना करो। सुनकर स्वामी जी डट कर खड़े हो गये और सभी बन्दर आश्चर्यजनक ढंग से वापिस लौट गये। इस घटना से स्वामी जी ने एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण कर न्यूयार्क में इसका उल्लेख किया—“यह पूरे जीवन के लिये एक शिक्षा है। भयंकर दुश्मन से भी आंखें मिलाओ, साहस के साथ उसके सम्मुख खड़े हो जाओ। जीवन के दुख-कष्ट को देखकर जब हम भागते नहीं तो वे भी बन्दरों की तरह हमारे पास फटकने का साहस नहीं कर पाते।

एक कुशल प्रबन्धक अनेक संकटों, विघ्न-बाधाओं से जूझ कर ही सफलता प्राप्त करता है। उसे श्रम, पूंजी, मशीनें, उत्पादन आदि अनेक संकटों से जूझते हुये सभी में समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित करते हुये अपने लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। संकटों से घबरा कर उनकी अनदेखी करने वाला कभी भी वांछित फल प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्म विश्वास बनाये रखो-

संसार का इतिहास उन मुट्ठी भर लोगों का इतिहास है जिसमें आत्म विश्वास कूट-कूट कर भरा था। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि तुम जो कुछ सोचोगे वही हो जाओगे। अपने पर सदा विश्वास रखो यदि भौतिक सम्पदा प्राप्त करना चाहते हो

तो भौतिक स्तर पर प्रयास करो तुम्हें धन सम्पत्ति मिल जायेगी। यदि विद्या और बुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो इसी क्षेत्र में कार्यरत रहकर प्रयत्न करो महान विद्वान लेखक कवि या साहित्यकार बन जाओगे।

कुरुक्षेत्र में अर्जुन ने कौरवों से युद्ध लड़ने से इसी लिये इंकार कर दिया था क्योंकि कौरवी सेना को देखकर वे अपना आत्म विश्वास गंवा बैठे थे जिसे भगवान कृष्ण ने गीता उपदेश देकर पुनः स्थापित किया था तथा अर्जुन ने युद्ध में विजय हासिल की थी।

आत्म विश्वास की महत्ता को यह घटना भी दर्शाती है। एक बार एक आदमी सागर पार करने के लिये पानी पर चलने लगा। विभीषण ने 'राम' नाम का पत्ता उसकी धोती में बांध दिया और कहा कि विश्वास रख कर चलते रहो लेकिन यदि विश्वास खो दिया तो डूब जाओगे। वह व्यक्ति आसानी से पानी पर चलने लगा। मझधार में पहुंचकर उसे पत्ते पर क्या लिखा है यह देखने की इच्छा हुई। वह स्वयं को रोक नहीं पाया और पत्ता खोलकर जब उसने राम लिखा देखा तो वह निराश हो गया और मन में श्रद्धा के स्थान पर अविश्वास पैदा हो गया और वह डूब गया।

अतः सफल प्रबन्धक को कभी भी अपने पर से विश्वास को नहीं हटने देना चाहिये। आत्मविश्वास की पूंजी ही प्रबन्धन की सफलता का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

स्वयं को उत्तरदायी समझो-

“दूसरो पर दोष लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल हो जाते हैं। अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिये अपने को ही उत्तरदायी समझो।” स्वामी विवेकानन्द के ये शब्द मानवीय प्रवृत्ति की ओर ईशारा करते हैं। प्रायः व्यक्ति समूह में कार्य करते समय सफलताओं का श्रेय स्वयं लेकर असफलताओं का दोष अपने सहयोगियों के सर मढ़ना चाहता है। एक कुशल योग्य व उत्कृष्ट प्रबन्धक के लिये ऐसी प्रवृत्ति घातक होती है। एक कुशल प्रबन्धक सफलता का सारा श्रेय अपने सहयोगियों या अधीनस्थों को देकर असफलता के लिये स्वयं को दोषी ठहराकर सहयोगियों का मन जीत लेता है। दूसरो पर असफलता का दोषारोपण कटुता व ईर्ष्या को जन्म देता है। SLV3 की असफलता की पूरी जिम्मेदारी प्रो. सतीश धवन ने अपने कंधों पर ली तथा प्रैस कान्फ्रेंस का सामना स्वयं किया। 1980 में SLV3 का दूसरा परीक्षण सफल हुआ। इस बार प्रो. धवन ने स्वयं न जाकर डा. अब्दुल कलाम और उनके साथियों को प्रैस कान्फ्रेंस में भेजा।

स्वामी विवेकानन्द तथा नारी सम्मान

- डा. सतीश चन्द्र मित्तल

19वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत में नारी जीवन की त्रासदी का काल था, जबकि इसका उत्तरार्द्ध नारी जागरण तथा चेतना की बेला थी। उस काल में भारत में स्त्री की दशा सुधारने तथा उन्नत करने के अनेक प्रेरक तथा स्फूर्तिदायक प्रयत्न हुए, जिसमें अनेक समाज सुधारकों तथा विभिन्न धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इन समाज सुधारकों में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, पंडित ईश्वर चंद विद्यासागर, पंडित विष्णु शास्त्री का योगदान सर्वश्रेष्ठ था। इसके साथ ही महादेव गोविंद रानाडे तथा रमाबाई ने स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय जैसे विद्वान ने नारी जीवन की पीड़ा को अपने प्रसिद्ध 14 उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त किया। इन सभी प्रयत्नों के बीच स्वामी विवेकानन्द ने अपने अल्प जीवन काल (1863-1902) में विश्व गगन पर भारतीय नारी जीवन की श्रेष्ठता तथा दिव्यता को प्रस्थापित ही नहीं किया, बल्कि उसमें आवश्यक सुधारकों के लिए भारतीय समाज को प्रेरित भी किया।

(28)

मातृत्व : ईश्वर का दिव्य रूप

स्वामी विवेकानन्द के चिंतन में भारतीय नारी को पवित्रतम स्थान पर 'भारत में स्त्री जीवन का आरंभ और अंत मातृत्व में ही होता है। विश्व में 'मां' नाम से पवित्र और कोई नाम नहीं हो सकता। मातृत्व में ही स्वार्थ-शून्यता, सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता का भाव निहित है। मातृत्व ईश्वर का दिव्य रूप है।'

प्रस्थापित करने में निःसंदेह उनकी मां भुवनेश्वरी देवी का अद्वितीय स्थान है, जो स्वयं सादगी, सात्विक वृत्ति, धर्म-परायणता तथा संवेदनशीलता की प्रतिमूर्ति थी। जिन्होंने उन्हें मातृ-भक्त बना दिया था, यह उनके भगिनी निवेदिता के लिखे पत्रों से ज्ञात होता है। साथ ही स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा मां काली ने उनमें नारी शक्ति की अलौकिक भावना को जगा दिया था।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन ध्येय धर्म एवं आध्यात्मिक के पश्चात् दूसरे स्थान पर स्त्री जीवन से संबंधित समस्याओं पर चिंतन बताया। अतः उन्होंने देश-विदेश में दिए अपने भाषणों में स्त्री की दशा तथा दिशा पर अनेक बार चर्चा की।

उन्होंने भारतीय समाज का मूल आधार नारी की प्रतिष्ठा तथा नारी को संस्कारों का सर्वोच्च स्थल बताया। वे भारतीय नारी को संस्कृति का रक्षक तथा सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की अनुक्रमणिका मानते थे। उन्होंने नारी को किसी भी राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट तापमापक यंत्र माना है।

मां के स्थान की श्रेष्ठता बतलाते हुए स्वामी विवेकानंद ने अपने भाषणों में कहा, 'भारत में स्त्री जीवन का आरंभ और अंत मातृत्व में ही होता है। विश्व में 'मां' नाम से पवित्र और कोई नाम नहीं हो सकता। मातृत्व में ही स्वार्थ शून्यता, सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता का भाव निहित है। मातृत्व ईश्वर का दिव्य रूप है।' उन्होंने स्त्री जीवन की पूर्णता मातृत्व में बतलाई, वे मातृत्व में सभी श्रेष्ठ गुणों का प्रकटीकरण बतलाते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि मातृत्व निश्चय ही पितृत्व से उच्च तथा महान है।

अतीत में भारतीय नारी

स्वामी विवेकानंद ने प्राचीन काल की भारतीय नारी का दिव्य तथा भव्य चित्रण किया है। उन्होंने विवाह को एक पवित्र बंधन बतलाते हुए कहा, 'विवाह इन्द्रिय सुख के निमित्त नहीं वरन् मानव वंश को आगे चलाने के लिए है। विवाह का भारतीय आदर्श यही है। समाज में उसी प्रकार के विवाह का प्रसार होता है जिसमें समाज का अधिक से अधिक कल्याण साधित हो सके। अतः पति-पत्नी को समाज और देश के कल्याण साधन के निमित्त अपने व्यक्तिगत आनंद और सुख की आहुति देने हेतु सदा तत्पर रहना चाहिए।'

स्वामी विवेकानंद ने अमरीका में भारतीय नारी के प्राचीन आदर्शों को आर्य ग्रंथों के माध्यम से उद्भूत करते हुए उसे सहधर्मिणी बतलाया, जिसमें विवाह के अवसर पर पवित्र अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। वे जीवन भर इसमें साथ-साथ आहुति देते हुए प्रार्थना करते हैं। यह अग्नि तब तक जलती रहती थी जब तक वे साथ-साथ रहते तथा किसी एक की मृत्यु होने पर उसके शरीर का दाह संस्कार भी इसी अग्नि से किया जाता था। कालांतर में इसमें परिवर्तन हुआ। (देखें पत्र 'ब्रोकलियन स्टैण्डर्ड यूनियन', 21 जनवरी, 1895)।

स्वामी विवेकानंद ने स्त्री तथा पुरुष में किंचित् भी भेद को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने बताया कि हजारों वर्षों से भारत की स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार था तथा पति की मृत्यु हो जाने पर वह ही सम्पत्ति की पूर्ण अधिकारिणी होती थी। दोनों में पूर्णतः समानता के अवसर तथा पूर्ण संतुलन था।

स्वामी विवेकानंद ने भारत की आदर्श नारियों का अपने भाषणों में बार-बार वर्णन किया है। भारतीय स्त्री चरित्र को आदर्श मां सीता के चरित्र से उत्पन्न बताया है। मां सीता का चरित्र 'पवित्रतम से भी पवित्र' बताया। गार्गी को विश्व की श्रेष्ठतम बुद्धिमान महिलाओं में वर्णित किया है। सावित्री को आध्यात्मिक शक्ति तथा निर्भीकता का स्वरूप बताया तथा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को शारीरिक क्षमता तथा बल का द्योतक बताया है।

वर्तमान में भारतीय नारी

भारत में महिलाओं के उच्च सम्मान तथा गरिमा की अनुभूति विश्व के लोगों को तब हुई जब 11 सितम्बर, 1893 को शिकागो में आयोजित विश्व धर्म महासम्मेलन में स्वामी विवेकानंद ने अपने भाषण में 'अमरीका के बहनों और भाइयों' कहकर सम्बोधित किया। आश्चर्यचकित हो सम्मेलन में उपस्थित एक अमरीकी महिला एस.के. ब्लैडगेल्ट ने देखा कि सम्मेलन में उपस्थित 7000 लोगों का समस्त समुदाय ताली बजाते-बजाते खड़ा हो गया। संभवत यह विश्व समाज की भारतीय महिला तथा भारतीय जनमानस के प्रति सम्मान में पहली अभिव्यक्ति थी।

(29)

स्वामी विवेकानंद को भारत की महिलाओं की उच्चतम स्थिति विश्व के अन्य स्थानों पर रहने वाली महिलाओं से लगी। उन्होंने कहा कि पाश्चात्य देशों में चचेर भाई और बहन के बीच विवाह पूर्ण रूप से वैध है। जबकि भारत में यह गैरकानूनी ही नहीं, बल्कि व्यभिचार जैसे एक गंभीर अपराध की श्रेणी में रखा जाता है। वे इस बात से बड़े आश्चर्यचकित थे कि ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज, हार्वर्ड तथा येल विश्वविद्यालयों के द्वार स्त्रियों के लिए तब भी बंद थे, जबकि भारत में उससे 20 वर्ष पूर्व (कोलकाता विश्वविद्यालय में) स्त्रियों के लिए द्वार खोल दिये गये थे।

आर्यों और 'सेमेटिक' लोगों में महिला संबंधी विचार स्वामी विवेकानंद को एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत लगे। सेमेटिक लोग उपासना में स्त्रियों की उपस्थिति घोर विघ्न स्वरूप मानते हैं। स्त्रियों को किसी प्रकार का धार्मिक कार्यों का अधिकार नहीं है। यहां तक कि आहार के लिए पक्षी मारना भी उनके लिए निषिद्ध है। जबकि आर्यों में सहधर्मिणी के बिना कोई भी धार्मिक कार्य नहीं होता। स्वामी विवेकानंद ने भारतीय समाज की अन्य देशों की वर्तमान स्थिति बतलाते हुए कहा कि भारत में स्त्री कहते ही मातृत्व का ध्यान आता है जबकि पश्चिम में स्त्री सिर्फ पत्नी है। उनको आश्चर्य हुआ कि विदेशों में पुत्र भी अपनी माता का नाम लेकर पुकारता है। इसके साथ जहां उन्होंने एशिया में ईसाई बिशपों के समकालीन दिनों में हरम की बात कही,

वही मुस्लिम महिलाओं की अवस्था और भी ज्यादा दुखद बतलाई (देखें, द कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद, भाग दो, 2005, कोलकाता, पृ. 506)

स्वामी विवेकानंद पाश्चात्य देशों में अविवाहित युवा स्त्रियों के कष्टों तथा दुरावस्था से अत्यंत दुखी थे। उन्होंने एक स्थान पर मिशनरियों तथा चर्च की महिलाओं की भी चर्चा की। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि जब कोई नारी अपने लिए पति खोजने का अधिक से अधिक प्रयत्न करती है तो वह सभी समुद्रतटीय स्थानों पर जाती है और किसी पुरुष को पकड़ पाने के लिए सब प्रकार के छल-छद्म से काम लेती है। जब वह अपने प्रयत्नों में असफल हो जाती है, जैसा कि अमरीका में कहते हैं-‘ओल्ड मैड’ हो जाती है, तो वह चर्च में सम्मिलित हो जाती है उनमें से कुछ चर्च के काम में उत्साह प्रदर्शित करती हैं पर अधिकांश चर्च नारियां दुराग्रही होती हैं। वे यहां पादरियों के कठोर शासन में रहती हैं। वे और पादरी मिलकर पृथ्वी को नरक बनाते हैं और धर्म की मिट्टी पलीत करते हैं। (देखें-विवेकानंद साहित्य, भाग चार, पृ. 250-51)

भविष्य में भारतीय नारी

स्वामी विवेकानंद समकालीन भारतीय महिलाओं की दुरावस्था से ही दुःखी नहीं थे बल्कि पराधीनता में जकड़ी भारत मां की अवस्था से भी क्षुब्ध थे। वे धर्म तथा आध्यात्म के अद्भुत प्रवक्ता होने पर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के क्रियाकलापों से अप्रसन्न थे। उनकी राष्ट्र की कल्पना सुस्पष्ट थी। वे भारत को एक माता के रूप में देखते थे। वे भारत को केवल मिट्टी, पत्थर या भोगभूमि न मानकर इसे पुण्यभूमि, तपोभूमि तथा साधन भूमि मानते थे। उन्होंने उस पराधीनता के काल में भारत मां की आराधना करते हुए कुछ समय के लिए अन्य सभी देवी-देवताओं को भूलने को कहा। उन्होंने सिंहनाद करते हुए कहा था, ‘आगामी पचास वर्षों तक तुम लोग एकमात्र’ ‘जननी जन्मभूमि स्वर्गादपि गरीयसी’ की आराधना करो। इन वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में कोई हानि नहीं है। दूसरे देवतागण सो रहे हैं। इस समय तुम्हारा एकमात्र देवता है—तुम्हारा राष्ट्र। सभी स्थानों में इसका हाथ है। उसके सतर्क कर्ण सभी जगह मौजूद हैं। यह सभी स्थानों पर विद्यमान है।’

यह कहना अनुचित न होगा कि स्वामी विवेकानंद बीमारी की अवस्था में भी महिलाओं के पिछड़ेपन तथा दुरावस्था से चिंतित रहे। भगिनी निवेदिता को एक पत्र में उन्होंने लिखा ‘दो शब्द कभी मत भूलो-नारी तथा व्यक्ति’। स्वामी विवेकानंद ने भारत की दो महत्वपूर्ण बुराइयां बताई-महिलाओं से तिरस्कारपूर्ण व्यवहार तथा गरीबों

को जातीय बंधनों में पीसना। परंतु उनको पूरा विश्वास था कि भारतीय नारी अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझा लेगी। उन्होंने महिलाओं को निर्भीक होकर कार्य करने का संदेश दिया। साथ ही चेतावनी भी दी कि आधुनिक नारी आधुनिक विज्ञान का

स्वामी विवेकानंद ने भारत की दो महत्वपूर्ण बुराइयां बताई-महिलाओं से तिरस्कारपूर्ण व्यवहार तथा गरीबों को जातीय बंधनों में पीसना। परंतु उनको पूरा विश्वास था कि भारतीय नारी अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझा लेगी। उन्होंने महिलाओं को निर्भीक होकर कार्य करने का संदेश दिया।

अध्ययन तथा उपयोग करे, परंतु अपनी प्राचीन सम्मानजनक तथा अतुलनीय बनाने में उसे पूर्णतः भयमुक्त करने में समाज तथा सरकार सहयोग करे।

स्वामी विवेकानंद की एक शिष्या भगिनी निवेदिता ईसाई होने के उनके बारे में नारी सुलभ भाव-भीने शब्द हैं, ‘धन्य है वह देश जिसने उन्हें जन्म दिया। धन्य-धन्य हैं वे लोग जो उस समय पृथ्वी पर जीवित थे। धन्य-धन्य-धन्य है वे जिन्हें उनके चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला।’

(30)

९

विवेकानन्द का प्रेरणा पत्र

बैलूरमठ

प्रिय मित्र,

इस बात की चिंता किये बिना कि हमारे पीछे कितने लोग आ रहे हैं, कुछ आ भी रहे हैं या नहीं, हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाएं। मेरा अनुभव और विश्वास है कि एक शेर जब वन में निकलकर गर्जना करता है तो सौ गीदड़ उसके पीछे अपने आप चले जाते हैं। जबकि शेर को उन गीदड़ों की न तो परवाह होती है न अपेक्षा।

सिंह पराक्रम प्रगट करो, लोग तुम्हारा अनुसरण अपने आप करेंगे।

तुम्हारा
विवेकानंद

सेवक, सेवा और सेव्य

- डा. धर्मवीर सेठी

बोधकथा

क्या यह भेंट गुरु और शिष्य की है?

जब तक स्वामी विवेकानंद जी लाहौर में रहे प्राध्यापक तीर्थराम नित्य प्रति घण्टों स्वामी जी के साथ ही बिताया करते थे।

एक दिन लाहौर छोड़ देने का प्रसंग आ गया। आज स्वामी जी को प्रस्थान करना था। प्राध्यापक महोदय सोच रहे थे 'स्वामी जी को अपनी ओर से कौन सी भेंट अर्पित करूँ? संकोच काम कर रहा था। निर्धनता की गोद में पले प्राध्यापक के पास सर्वाधिक मूल्यवान सम्पत्ति के रूप में एक सोने की घड़ी थी। उसी को अर्पित कर देने का उन्होंने निश्चय कर डाला। विदाई अत्यन्त भाव-भीनी थी। प्राध्यापक महोदय ने भरे गले से कहा, 'स्वामी जी! क्या इस निर्धन भक्त की भेंट स्वीकार करके मुझे अनुग्रहित करेंगे?' कहते-कहते उन्होंने घड़ी आगे बढ़ा दी। स्वामी जी के नेत्र चमक उठे। स्वर्ण व कांचन से अलिप्त होने पर भी स्वामी जी इसे अस्वीकार न कर सके। उन्हें भेंट स्वीकार करनी पड़ी। भक्त प्राध्यापक के नेत्र चमक उठे। कृतज्ञता से उनका सिर झुक गया। लेकिन यह क्या? स्वामी जी ने पुनः कहा, 'यह घड़ी अब मेरी है? परन्तु इसे मैं यहीं पर सुरक्षित ढंग से रखना चाहता हूँ' ऐसा कहते-कहते उन्होंने घड़ी उन्हीं की जेब में रख दी। बात जारी रखते हुए वे बोले उठे, 'क्या इसे रख भी सकोगे संभाल कर?' 'क्यों नहीं?' विश्वास भरा प्राध्यापक का उत्तर था।

'इसलिए कि तुम्हारा जन्म कामिनी और कांचन के लिए नहीं हुआ है। मातृ भूमि का आह्वान क्या तुम्हें सुनाई नहीं देता है? तुम्हें अनेक श्रेष्ठ कार्य करने हैं। अर्थ और काम तुम्हें बांधकर न रख सकेंगे।

स्वामी जी कहते रहे। प्राध्यापक खड़े सोच रहे थे 'क्या यही मेरे जीवन की दिशा है? वे अवाक् खड़े थे। उनका सिर झुक गया। स्वामी जी का स्नेहाशीष पाकर गणित प्राध्यापक तीर्थराम निहाल हो उठा। उसे जीवन की दिशा मिल चुकी थी। पास खड़े लोग सोच रहे थे, 'क्या यह भेंट गुरु व शिष्य की है?'

प्रस्तुति-समर्थ

सेवा एक पावन कृत्य है। किसी अकिंचन की सेवा करने वाले को जो आत्मतोष होता है, उसकी कोई तुलना नहीं। सेवा की भावना संस्कार-प्रेरित होती है। मेरे विचार में सेवा और संस्कार दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं।

नारायण से पहले नर की सेवा आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने हमें यही मार्ग दिखलाया था।

'मानस'कार गोसाईं तुलसीदास ने अपने संवादात्मक महाकाव्य रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में बड़े ही सरल शब्दों में सहज भाव से काग्भुशुण्डि और गरुड़ के संवाद के माध्यम से गरुड़ को सम्बोधित करते हुए कहा कि:-

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि

भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारी॥ ॥१९(क)॥

(31)

अर्थात् हे सर्पों के शत्रु गरुड़! मैं सेवक हूँ और भगवान मेरे सेव्य (स्वामी) हैं, इस भाव (सम्बन्ध) के बिना संसार-सागर को पार नहीं किया जा सकता। ऐसा सिद्धान्त विचार कर ही श्री रामचन्द्र जी के चरण-कमलों का भजन (ध्यान) कीजिए।

इस 'स' कार की तिकोन का विशेष महत्त्व है। यह तीनों अन्योन्याश्रित हैं। एक प्रसिद्ध कहावत है 'कर सेवा खा मेवा'। तो क्या सेवा की भावना सकाम होती है? सकाम भाव से की गई सेवा, सेवा नहीं, स्वार्थ है। निष्काम भाव से यदि किसी के काम आ सकें तो वह सच्ची सेवा है। किसी सूरदास की लाठी पकड़कर उसे उसके गन्तव्य पहुंचा दो, कितनी प्रसन्नता होगी; किसी वृद्ध के पास बैठकर उसके लिए कोई कहानी अथवा समाचार पत्र के कुछ पन्ने बांच दीजिए, दोनों की प्रसन्नता द्विगुणित हो जाएगी। निरक्षर बच्चों को साक्षर बनने में सहायता करने से मन बल्लियों उछलने लगेगा, यह सोचकर कि मैंने आज एक अच्छा और ठोस कार्य किया है।

सेव् धातु आत्मनेपदी है। सच्ची सेवा अन्तर्मन से होती है न कि प्रदर्शन से। सेव्य (साध्य) तक पहुंचने के लिए सेवक (कर्ता, साधक) के पास सेवा का ही मार्ग (साधन) है। इसलिए इस त्रिकोण का महत्त्व है।

प्राणिमात्र में सर्वोत्कृष्ट स्थान मनुष्य का है क्योंकि यह मानव योनि (ऐसा माना जाता है) एक ही बार प्राप्त होती है। 'XXX सब ते अधिक मनुज मोहि भाए' (किन्तु) मनुष्य मुझ को सब से अधिक अच्छे लगते हैं। (उत्तरकाण्ड)।

यह मानव ही है जिसमें संवेदनशीलता होती है। मैं दूसरों के सुख, दुःख की यात्रा में सहयात्री बन सकूँ इससे अधिक सन्तुष्टि क्या हो सकती है। शायद इस लिए कहा जाता है 'नर सेवा नारायण सेवा'। जब घट-घट में भगवान बसता है तो किसी दीन-दुःखिया की सेवा-सुश्रुषा सीधे प्रभु सेवा ही तो कहलाएगी।

अंग्रेजी में कहावत है God helps those who help themselves. अर्थात् प्रभु भी उसी की सहायता करते हैं जो अपनी सहायता (सेवा) स्वयं करता है। अर्थात् अपने शरीर की ठीक प्रकार से देख-भाल करना, उसे स्वस्थ रखना भी तो सेवा ही है। 'पहला सुख नीरोगी काया' बस अपनी काया के साथ हम अन्याय न करें तभी हम किसी दूसरे मानव के काम आएंगे। यदि हम स्वयं रुग्ण होंगे तो किसी के रोग का निदान कैसे कर पाएंगे।

परिवार में रहते हुए सेवा का आदर्श भी सीता के द्वारा दर्शाया गया है:-

'कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥' घर में कौशल्यादि सभी सासुओं की सीता जी सेवा करती हैं, पर उन्हें किसी प्रकार का अभिमान और मद नहीं है। इस बात से स्पष्ट है सेवा जैसे पुण्य कार्य में अहंकार, स्वार्थपरता और 'आई' का बिल्कुल स्थान नहीं है।

रामचरितमानस में आदर्श सेवक का स्थान (दर्जा) तो हुनमान को ही दिया गया है:-

हनुमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

शिव-पार्वती संवाद में शिवजी कहते हैं, हे (गिरिजे) पार्वती! हनुमान जी के समान न तो कोई श्रीराम के चरणों का प्रेमी ही है, जिनके प्रेम और सेवा की स्वयं प्रभु ने अपने श्रीमुख से बारम्बार बड़ाई की है। शायद इसलिए हनुमान सुग्रीव से बड़ी विनम्रता से कहते हैं।

दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तब चरन देखिहउँ देवा।

हे देव! दस (कुछ) दिन श्री रघुनाथ जी की चरण-सेवा करके फिर मैं आकर आपके चरणों के दर्शन करूंगा।

श्रीराम ने सेवक की बड़ी सुन्दर परिभाषा दी है:-

सत्य कहउं खग तोहि, सुचि सेवक मम प्राणप्रिया।

हे पक्षी मैं तुझ से सत्य कहता हूँ, पवित्र (अनन्य और निष्काम भाव वाला) सेवक ही मुझे प्राणों के समान प्यारा है। ऐसी निष्काम भाव से की गई सेवा से ही सदाचार की प्राप्ति होती है। -'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई'। चित्र में हनुमान को सदा श्रीराम (और उनके परिवार) के चरणों में ही बैठा दिखाया जाता है।

राष्ट्रीय केडिट कोर (NCC) का ध्येय वाक्य है 'Service Before Self' और राष्ट्रीय सेवा योजना (NSS) का 'Not me but you'। सेवा का कितना सटीक उदाहरण है:- 'निज से पहले पर' और 'मैं नहीं तू।' ऐसा क्यों? क्योंकि अपने लिए तो सब जीते हैं। क्या मैं दूसरों के लिए कुछ कर पाया हूँ, यह विचारणीय है। सेवा होती है तन से, मन से और धन से। ध्यान रहे 'धन' को अन्त में रखा गया है। गुरुद्वारे में सैंकड़ों 'गुरुमुख' कारसेवा में जुट जाते हैं। क्या छोटा, क्या बड़ा; क्या निर्धन, क्या धनी। वह कहलाती है सश्रद्ध सेवा। कारसेवा करते नर-नारी समूह की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं होती।

(32)

सेवा का आध्यात्मिक पक्ष भी है। सेवा न केवल मनुष्य का शारीरिक और मानसिक रूप से उदात्तीकरण करती है अपितु परमात्मा के साथ एकात्मभाव स्थापित करने में भी सहायक होती है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में 'नर में नारायण' को देखते हुए उसकी सेवा करना हृदय की शुचिता का द्योतक है। संतस्त मानवता की सेवा हमें स्रष्टा के अधिक समीप ले आती है।

सेवा के क्षेत्र में देश-विदेश की अनेकों समाजसेवी एवं अराजनैतिक संस्थाएँ निरन्तर कार्यरत हैं। उन्हीं में से एक संस्था है भारत विकास परिषद्। गुरु गोविन्द सिंह ने अपने समय की जुझारु आवश्यकता के अनुरूप पंच ककार (कछ, कड़ा, करपान, कंधा, केस) घोषित किए थे, उसी प्रकार भारत विकास परिषद् ने तत्कालीन सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए अपने पांच प्रकार के सूत्र बनाए थे-सम्पर्क, सहयोग, संस्कार, सेवा और समर्पण। जरा ध्यान से विचार करें तो सेवा भावना मानव मन के संस्कारित होने के पश्चात् ही उद्भूत होती है। मुझे तो यह क्रम नितान्त युक्ति संगत प्रतीत होता है-पहले परिचय प्राप्त करो, फिर सहयोग की आशा बनेगी और दोनों के विचारों के आदान-प्रदान से संस्कार की भावना उभरेगी; तब जाकर मन में सेवा वृत्ति जगेगी जो हमें अन्ततोगत्वा समर्पण की ओर अग्रसर करती है:-

मन्मना भव मद्याजी माम नमस्कुरु।
अहं त्वाम सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्जुन को 'मतिभ्रम' की स्थिति से निकाल कर श्री कृष्ण ने ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया कि उसे आत्म समर्पण करना ही पड़ा। 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादात् मयाच्युता।' 'XXX करिष्ये वचनम् तवा।' श्री कृष्ण सखा-रूप में मानों अर्जुन की सेवा ही कर रहे थे।

उसी 'सेवा' सूत्र के अन्तर्गत भारत विकास परिषद् के कुछ प्रकल्प (Project) निर्धारित किये गए हैं जैसे अपने नगर को विकलांगमुक्त करना, नेत्र एवं देह दान, स्वास्थ्य शिविर, सरल सामूहिक विवाह, साक्षरता अभियान, दैविक और भौतिक आपदाओं से त्रस्त मानवता की सहायता, चिकित्सालयों और डायग्नोस्टिक केन्द्रों की स्थापना, ग्राम/बस्ति का पुनरुद्धार इत्यादि।

स्मरण रहे शुरू-शुरू में भारत विकास परिषद् की पहचान मुख्य रूप से 'कृत्रिम अंगों के निःशुल्क वितरण (दान)' से ही बनी थी। अब तो ऐसे 14 केन्द्र भारत भर में स्तुत्य कार्य कर रहे हैं।

भारत के दो पूर्व राष्ट्रपतियों द्वारा क्रमशः दिल्ली (शाहदरा) को वर्ष 1995 और लुधियाना केन्द्र को वर्ष 2004 में इन सेवाओं के लिए सम्मानित किया जा चुका है। और अभी कुछ समय पूर्व लुधियाना केन्द्र को प्रधानमंत्री द्वारा FICCI पुरस्कार भी प्रदान किया गया था। परिषद् ऐसे सेवा कार्यों में निरन्तर गतिमयता बनाए हुए हैं।

अन्त में यदि यह कहा जाए कि सेव्य हैं समाज के उपरोक्त वर्ग, सेवक हैं भारत विकास परिषद् के परिवार और सेवा उन तक पहुँचने का सोपान तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सेवा के गुण बहुत हैं, सदा रहो अपनाए।
अन्तर्मन की शान्ति को, दुगना रखे बनाए।
दुगना रखे बनाए, अहं को दूर भगावे।
शत्रुन को भी एक ही, स्मिति से दे भरमावे।
कहे 'धीर' विनम्र हो, सुनो हे प्राण के खेवा।
सब कुछ करके त्याग, करो तुम केवल सेवा॥

भारतीय युवाओं के प्रेरणा स्रोत- स्वामी विवेकानन्द

- कमल मालवीय

आज की तीव्र गति से बदलती हुई परिस्थितियों में भी हमारे युवाओं में ऐसे अनन्त, अपूर्व एवं पवित्र ऊर्जावान साहस का संचार 12 जनवरी, 1863 स्वामी विवेकानन्द जी की जन्मतिथि करती है कि वे लौटकर स्वामी विवेकानन्द के संदेश की ओर उन्मुख होते हैं—“उठो जागो और रूको मत जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाये।”

उनकी जन्मतिथि “समर्थ भारत-पर्व” के रूप में मनायी जाती है। पराधिनता के चंगुल में फंसे हुए निर्धनता, अशिक्षा से पीड़ित भारत को वे “समर्थ भारत” के रूप में देखना चाहते थे। उनकी तमाम अपेक्षायें भारत की युवा शक्ति से थीं।

(33)

स्वामी जी आधुनिक भारतीय युवाओं के आदर्श प्रतिमान हैं। उन्हें आधुनिक भारतीय युवा पर अगाध विश्वास था। उन्होंने कहा “मैं भविष्य को नहीं देखता और न ही देखने की चिन्ता करता हूँ किन्तु एक स्वप्न मैं साकार रूप से स्पष्ट देख रहा हूँ कि वह यह कि प्राचीन मातृभूमि एक बार पुनः जाग उठी है। पहले से कहीं और मंगलमय स्वर में उसकी पुनः प्रतिष्ठा की घोषणा समस्त विश्व में करो।

बंगाल के हिन्दू परिवार में 12 जनवरी 1863 को एक बालक का जन्म हुआ। माता-पिता ने इसका नाम नरेन्द्र रखा। वे बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के स्वामी थे। स्वामी विवेकानन्द के गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस काली के भक्त थे और प्रार्थना करते-करते, उनकी समाधि लग जाती थी, जब नरेन्द्र ने सुना तो उसे ढोंग लगा परन्तु उनके सम्पर्क में आते ही नास्तिक नरेन्द्र आस्तिक बन गया और रामकृष्ण को अपना गुरु मानकर सन्यास ग्रहण कर लिया। खेतड़ी प्रदेश के राजा ने उनका नाम “विवेकानन्द” रखा।

विवेकानन्द पश्चिम दर्शन के ज्ञाता के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा के कवि भी थे। धार्मिक अन्ध विश्वासों और सांस्कृतिक पतन के कारण निराशा सता रही थी। तभी वे ब्रह्म समाज की ओर आकृष्ट हुए, परन्तु उनकी आध्यात्मिक भूख शान्त नहीं

हुई। 18 वर्ष की आयु में “भगवान को देखने की इच्छा” को महसूस किया। गुरु की कृपा से इन्हें आत्म-साक्षात्कार हुआ। परमहंस के प्रमुख शिष्यों में से एक थे।

एक बार किसी ने गुरुदेव की सेवा में घृणा और लापरवाही दिखाई, इसे देखकर विवेकानन्द को क्रोध आ गया। गुरु भाई को पाठ पढ़ाने और गुरु की प्रत्येक वस्तु के प्रति अगाध प्रेम दिखाते हुए उनके बिस्तर के पास रक्त कफ से भरी थूकदानी उठा कर फेंकते थे। गुरु के प्रति निष्ठा से ही वे उनके दिव्यतम आदर्श की उत्तम सेवा कर सके। समग्र विश्व में भारत के अमूल्य अध्यात्मिक खजाने की महक फैला सके। उनके व्यक्तित्व में गुरु भक्ति, गुरु सेवा और गुरु के प्रति अनन्य निष्ठा थी।

विवेकानन्द के लिए व्यक्तिगत युक्ति कोई मायने नहीं रखती थी। उनका दिल तो भारत की दलित जनता की कठिनाइयों और समस्याओं की ओर था। विवेकानन्द ने अनुभव किया कि उच्चतम आदर्श को मानवता की सेवा के माध्यम से भगवान की सेवा किया गया। इस प्रकार विवेकानन्द ने “नर सेवा, नारायण सेवा” को आत्मसात किया।

विवेकानन्द ने पवित्र स्थलों में से कई स्थानों का दौरा किया। भारत यात्रा के माध्यम से कई प्रभावशाली लोगों के साथ सम्पर्क में आये। 1893 में शिकागो (अमेरिका) में विश्व धर्म परिषद् हो रही थी। स्वामी जी उसमें भारत के प्रतिनिधि के रूप में पहुंचे। अमेरिका और यूरोप के लोग उस समय भारतवासियों को बहुत ही हीन दृष्टि से देखते थे। वहां लोगों ने काफी प्रयास किया कि स्वामी जी को बोलने का अवसर ना मिले परन्तु अमेरिकन प्रोफेसर के प्रयास से उन्हें थोड़ा समय मिल गया। उनके विचारों को सुनकर सभी चकित रह गये, फिर तो उनका भव्य स्वागत हुआ। तीन वर्ष तक वे अमेरिका में भारतीय तत्व ज्ञान की ज्योति प्रदान करते रहे। उनकी वक्तृत्व शैली को देखते हुए वहां के मीडिया ने उन्हें “साइक्लॉजिक हिन्दू” का नाम दिया। विश्व धर्म सम्मेलन में उनके भाषणों की धूम मच गई। उन्होंने अमेरिका तथा भारत में जगह-जगह “रामकृष्ण आश्रम” स्थापित कर गुरुदेव का संदेश फैलाया। उनके अमेरिकन विद्वानों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। कई महत्वपूर्ण स्थानों पर उन्होंने व्याख्यान दिये और उसका जबरदस्त प्रभाव हुआ। उनके धर्म सम्बन्धित विचारों से प्रभावित होकर लोग हिन्दू धर्म में दीक्षित होने के लिए कहने लगे। इस पर स्वामी जी ने कहा “मैं यहां धर्म प्रचार के लिए आया हूं न कि धर्म परिवर्तन के लिए।” मैं अमेरिकी धर्म प्रचारकों को संदेश देने आया हूं कि वे

धर्म परिवर्तन के अभियान को बन्द करें। प्रत्येक धर्म के लोगों को बेहतर इन्सान बनाने का प्रयास करें। यही धर्म की सार्थकता है। यही सभी धर्मों का लक्ष्य है। हिन्दू संस्कृति विश्व बन्धुत्व का संदेश देनी है, मानवता को सबसे बड़ा धर्म मानती है। “हर धर्म का सार मानवता के गुणों को विकसित करने में है”, इसलिये तुम भारत के ऋषियों के शाश्वत संदेशों का लाभ उठाओं और जीवन में उतारो। स्वामी जी ने 4 जुलाई, 1902 को इस देह को त्याग दिया।

9

(34)

“जिन व्यक्तियों के जीवन का एकमात्र लक्ष्य जीवन की समस्त शक्तियों के विनिमय में, कांचन, नाम-यश तथा अन्य किसी प्रकार के भोग विलास का अर्जन करना है, जिनके समक्ष रणभूमि-गामी, सेना-दल ही शक्ति के विकास का एकमात्र सुख है, ऐसे लोगों के लिए भारत सदा ही एक बड़े मरुस्थल के समान प्रतीत होगा, जहां की आंधी का एक झोंका ही उनके कल्पित जीवन-विकास की धारणा के लिए मानो मृत्यु-स्वरूप है, इस मायावी जगत में जो एकमात्र प्रकृत सत्ता है, उसके अनुसंधान में रत प्रत्येक व्यक्ति के लिए भारतवर्ष आशा की एक प्रज्वलित शिखा है।”

गालियाँ

स्वामी विवेकानन्द किसी गांव में प्रवचन के लिए जा रहे थे। मार्ग में एक दुष्ट व्यक्ति गालियां देते हुए उनका पीछा करने लगा। जब गांव की सीमा आ गयी तब स्वामी जी रूके और उस व्यक्ति से बोले,

“देखो भलेमानुष ! जितनी गालियाँ देनी हो यहां पर दे लो, यदि सभा स्थल पर गाली दोगे, तो हो सकता है वहां कुछ लोग तुम्हें दंड दे और उस दशा में मैं तुम्हें बचा नहीं सका, तो मेरी वजह से तुम जैसे विद्वान की पिटाई हो जाएगी और पाप मुझे लगेगा।

वह व्यक्ति शर्म से झुक गया और माफी मांग कर चला गया।

– प्रस्तुति सुमन मालवीय

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का द्वंद

- सरोज कुमार वर्मा

समाजशास्त्री सच्चिदानंद सिन्हा के इस कथन से अपनी बात शुरू करना प्रासंगिक प्रतीत होता है। “इस विकास प्रक्रिया के रहते प्रदूषण पर थोड़ी रोक भले ही लग जाए संसाधनों के विशाल क्षय को रोकना तो दूर, इसे कम भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विशाल मात्रा में विभिन्न कच्चे मालों और विशाल मात्रा में ऊर्जा की खपत रोकने से ही यह संभव है।”

आदमी की दावेदारी दुनिया के सभी प्राणियों से बेहतर होने की है। अब वह है या नहीं, इस बहस में पड़े बिना यह स्वीकार भी लिया जाए तो अचरज होता है कि ऐसा दावा करने के बावजूद, उसने जैसी दुनिया बनाई है वह बेहतर नहीं है। यदि होती तो इसमें अन्य प्राणियों के जान के लाले नहीं पड़े होते, वनस्पतियों की प्रजातियां लुप्त नहीं हुई होती, पानी का संकट नहीं आया होता, जंगल नष्ट नहीं हुए होते, समंदर उफन नहीं रहा होता और पर्वत पिघल नहीं रहा होता। अभी एक दशक भी नहीं बीता। उसने अपनी सुविधाओं के लिए अन्य प्राणियों समेत प्रकृति के तमाम उपादानों को ध्वस्त किया है, इस दलील के साथ कि विकास के लिये यह सब जरूरी है। बेशक उसने जिस भौतिक विकास को विकास का एक मात्र पैमाना मान लिया है उसी की वजह से आदमी समूची धरती को विनाश के मुहाने पर लाकर खड़ा करने वाला पर्यावरण का यह सर्वसंहारक संकट आन खड़ा हुआ है।

‘पर्यावरण’ शब्द ‘परिसमंतात् आवरण’ से निष्पन्न हुआ है, जिसके मुताबिक सभी ओर से सृष्टि को घेरने वाला पर्यावरण है। अब चूँकि पृथ्वी, पानी, हवा, आग, आकाश, ध्वनि और वनस्पति आदि सभी तरफ से घेरे हुए हैं, इसलिए ये ही पर्यावरण के मूल तत्व हैं। इन्हीं के बीच हम और अन्य सभी प्राणी जीवित रह पाते हैं। ये तत्व प्रकृति में हमेशा से एक संतुलन अवस्था में रहे हैं। मनुष्य अपने जीवनयापन के लिए उन्हें छेड़ता भी रहा है तो उसी हद तक जितने से उनका संतुलन बिगड़ने न पाए। लेकिन इन दिनों यह संतुलन बिगड़ने लगा है और वह इसलिए कि आदमी अपने विकास के नाम पर इन तत्वों को नष्ट करता जा रहा है और उसकी मात्रा इतनी अधिक होती है कि उससे उनका अनुपात बिगड़ गया है। इसी क्रम में कई प्रकार की हानिकारक गैस, जहरीला धुंआ, तेज आवाज, उर्वरक और कचरा आदि इतनी अधिक मात्रा में प्रकृति में छोड़ें जाने लगे हैं, कि वह प्रदूषित हो गई है पर्यावरण-संकट इसी प्रदूषण का नतीजा है।

यह संकट जल, जमीन, ताप, वायु, खनिज और वनस्पति आदि सभी क्षेत्रों में पैदा हुआ है। जमीन और वनस्पति का संकट, सड़क बनाने, शहर बसाने, नदी बांधने, पर्यटन-स्थल विकसित करने तथा उद्योग लगाने के नाम पर जंगलों को बेतहाशा काटे जाने से पैदा हुआ है तो जल का संकट कारखानों से निकलने वाले कचरे, घरों से निकलने वाले गंदे पानी, कूड़ा-करकट तथा सड़ी-गली चीजों के नदियों में मिलने से उत्पन्न हुआ है। कल-कारखानों तथा मोटरगाड़ियों से लगातार निकलने वाला धुआं हवा को प्रदूषित कर रहा है तो निरंतर चलने वाले उद्योगों तथा रेल-बस सहित सभी तरह के वाहनों से उत्पन्न शोर ध्वनि-प्रदूषण पैदा कर रहे हैं। इसी प्रकार से कोयला तथा पेट्रोलियम आदि खनिज पदार्थ को अधिक मात्रा में जलाने से एक ओर तो उनका भंडार समाप्त होता जा रहा है। दूसरी ओर उससे उत्पन्न कार्बन डाई-ऑक्साइड से वायुमंडल की गर्मी लगातार बढ़ती जा रही है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की अन्य गैसों के कारण पृथ्वी की सुरक्षा परत ओजोन में भी छेद हो गया है। आशुतोष उपाध्याय ने अपने तथ्यपरक रिपोर्ट में लिखा है कि “संयुक्त राष्ट्र आईपीसीसी से जुड़े 600 से ज्यादा वैज्ञानिकों के मुताबिक इस बात की संभावना 90 फीसदी से ज्यादा है कि वैश्विक तपन आदमी की करतूतों का नतीजा है। पिछली आधी सदी के दरम्यान खासतौर पर कोयला और पेट्रोलियम जैसे जीवाश्म ईंधनों को फूंकने से वातावरण में कार्बन डाई-ऑक्साइड और दूसरी ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा खतरनाक हदों तक जा पहुंची है। एक अनुमान के मुताबिक आज हमारी आबो-हवा में उद्योग-पूर्व युग की तुलना में 30 फीसदी से ज्यादा कार्बन डाई-ऑक्साइड मौजूद है।

(35)

सामान्य स्थितियों में सूर्य से पहुंचने वाली ऊष्मा का एक हिस्सा हमारे वातावरण में जीवनोपयोगी गर्मी प्रदान करता है और शेष विकिरण धरती की सतह से टकराकर वापस अंतरिक्ष में लौट जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार वातावरण में मौजूद ग्रीन हाउस गैसों लौटने वाली अतिरिक्त ऊर्जा को सोख रही हैं जिससे धरती की सतह का तापमान बढ़ रहा है। ऐसी अशंका है कि 21वीं सदी के अंत तक पृथ्वी के औसत तापमान में 1.1 से 6.4 डिग्री सेंटीग्रेड की बढ़ोतरी हो जाएगी। भारत में बंगाल की खाड़ी के आस-पास यह वृद्धि 2 डिग्री तक होगी जबकि हिमालयी क्षेत्रों में पारा 4 डिग्री तक होगी जबकि हिमालयी क्षेत्रों में पारा 4 डिग्री तक चढ़ जाएगा। अंकों की यह वृद्धि भले ही मामूली लगे लेकिन असल में यह समूची मानव सभ्यता में भारी उलट-फेर करने की क्षमता रखती है। गौरतलब है कि करीब 20 हजार वर्ष पूर्व आए एक लघु हिमयुग के दौरान पृथ्वी के औसत तापमान से जीव-जगत की तस्वीर बदल गई थी। आज मौसम के अप्रत्याशित व्यवहार को भी वैश्विक तपन से जोड़ा जा रहा है। सूखा, अतिवृष्टि, चक्रवात और समुद्री हलचलों को वैज्ञानिक

तापमान वृद्धि का नतीजा बताते हैं। इन नतीजों के कारण ही पर्यावरण का ऐसा गंभीर खतरा पैदा हो गया है कि अब सामूहिक विनाश की आशंका सताने लगी है। यद्यपि इस खतरे से बचने के लिए 1972 में स्टॉकहोम में संयुक्त राष्ट्र की ओर से पहला पर्यावरण सम्मेलन हुआ, जिसमें 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया। फिर इसके 20 वर्षों बाद 1992 में रियो-डी-जेनेरियो तथा उसके बाद 1997 में क्योटो में और उसके बाद भी कई पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किए गए, लेकिन इन आयोजनों के बावजूद ऐसा नहीं लगता कि पर्यावरण के क्षरण और प्रदूषण में कोई कमी आई है और इस संकट की भयावहता कुछ कम हुई है।

इसकी वजह सिर्फ भौतिक विकास को विकास का एक मात्र पैमाना मान लेना है, जिसके मुताबिक भौतिक वस्तुओं का अधिकाधिक उपभोग करने वाला आदमी और मुल्क विकसित कहलाता है तथा जो आदमी और मुल्क ऐसा नहीं कर पाते उसे विकासशील कहा जाता है। अब क्योंकि विकास का यह पूरा ताना-बाना उद्योग-केंद्रित है, इस कारण विकसित देश उन्नत उद्योगों द्वारा अत्यधिक भौतिक संपदाओं का उत्पादन कर उनका अनियंत्रित उपभोग करते हैं और विकासशील देशों के लोग भी यही सब करने की होड़ में लगे हैं, क्योंकि ऐसा करके ही वे विकसित कहला सकते हैं। अब इन भौतिक चीजों के उत्पादन में जंगल, खनिज और पेट्रोलियम आदि प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा उपयोग होता है जिससे इन संसाधनों का नाश होता है और उत्पादन की इस प्रक्रिया में गंदा पानी, रासायनिक कचरा, विषाक्त गैस तथा ज्यादा मात्रा में धुआं आदि उत्पन्न होकर प्रकृति में मिल जाते हैं जिससे वह प्रदूषित हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक विकास पर्यावरण-संकट का मूल है; क्योंकि उत्पादन पर आधारित होने के कारण इस विकास-प्रक्रिया में कोयला और पेट्रोलियम आदि जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, वे पदार्थ असीमित नहीं हैं। ये बड़ी तेजी से कम होते जा रहे हैं और अगर उत्पादन की यही रफ्तार रही तो बहुत जल्दी समाप्त हो जाएंगे। प्रकृति में मौजूद संसाधन के आधार पर मौजूदा उत्पादन प्रक्रिया सिर्फ 2020 तक चल सकती है और उसके बाद इसकी रफ्तार कम होने लगेगी। इस आशंका के मूर्त रूप होने की संभावना इसलिए बनती है कि लगभग तीन दशक पहले 96.1 अरब टन कुल मात्रा वाले पेट्रोलियम में से एक वर्ष में ही 271.6 करोड़ टन निकाल लिया गया था। इस अनुपात से निकाला जाने वाला पेट्रोलियम 2019 में पूरी तरह समाप्त हो जाएगा और इसी तरह कोयला आदि खनिज भी समाप्त हो जाएंगे। इसलिए इनके बेतहाशा खपत पर रोक लगाना जरूरी है।

लेकिन यह रोक इसलिए नहीं लगाई जा सकती कि इस भौतिकवादी विकास के विचार ने एक ऐसी उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है जिसमें आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं का अंतर किए बगैर व्यक्ति अधिक से अधिक वस्तुओं का उपभोग कर लेना चाहता है। लेकिन इसमें मनुष्य का दोष नहीं है क्योंकि उपभोक्तावादी संस्कृति की यह विशेषता है कि वह विज्ञापन के द्वारा अनावश्यक वस्तुओं का प्रचार-प्रसार कर उन्हें व्यक्ति के लिए आवश्यक बना देता है। इसी कारण आदमी की थोड़ी-सी आवश्यकताएं भी इस हद तक विस्तार पा जाती हैं कि वह उन्हें पूरा करने के प्रयास में ही अनावश्यक वस्तुओं का जखीरा जमा करने लगता है। अब चूंकि इन सभी अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और प्रकृति का प्रदूषण भी होता है, इसलिए भारत डोगरा कहते हैं कि “विलासिता की जीवनशैली अनिवार्य रूप से पर्यावरण के विनाश से जुड़ी है। करोड़ों गरीबों वाली दुनिया में यह विलासिता दूसरों के संसाधन छीनने से भी जुड़ी है। जिस समाज में विलासिता की जीवनशैली का प्रसार होता है, उसे चमकदार उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिसके पीछे सब दौड़ते रहें, ऐसे समाज को सार्थक विकास के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जिस समाज में नयी से नयी उपभोक्ता वस्तुओं को बहुत आक्रामक ढंग से किया जाता है, नित नयी-नयी उपभोक्ता वस्तुओं की कृत्रिम भूख को उकसाया जाता है, उस समाज में न तो लोगों को संतोष मिल सकता है, न ही वहां का पर्यावरण बच सकता है।”

(36)

मगर ये समस्याएं यूं ही नहीं खड़ी की जा रही हैं, बल्कि इनके पीछे एक सुनिश्चित दार्शनिक सिद्धांत है। यह सिद्धांत सुखवाद का है। बेंथम, मिले, एपिक्यूरस, एरिस्टीपस तथा सिजविक जैसे दार्शनिक इस सिद्धांत के समर्थक हैं। इन सभी विचारकों के सुखवादी सिद्धांतों में कुछ अंतर भी हैं, लेकिन इन अंतरों के बावजूद ये सभी विचारक सुख को जीवन का चरम लक्ष्य मानने में एकमत हैं। इसलिए ये सभी मानते हैं कि आदमी जिंदगीभर सुख की खोज में लगा रहता है और उसका ऐसा करना ही उचित है। बेंथम कहते हैं कि “अपने लिए सुख का अधिकांश भाग प्राप्त करना प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का लक्ष्य है।” बेंथम ऐसा मानते हैं कि आदमी स्वभाव से स्वार्थी होता है। यद्यपि ऐसा मानने के बावजूद वह अपने सुखवादी सिद्धांत में ‘अधिकतम संख्या में अधिकतम सुख’ का विचार देकर निजी सुख के बदले सामाजिक सुख की वकालत करते हैं और मानव-मात्र के लिए अधिकतम सुख खोजने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर परार्थवाद की जुगाली भी करते हैं। लेकिन अपने अधिकतम सुख के साथ दूसरे का भी अधिकतम सुख संभव कैसे है, इसका कोई सूत्र वह नहीं बता पाते।

हालांकि मिल उससे उबरने के लिए सुखों में गुणात्मक भेद मान लेते हैं और बेंथम के विचार को संशोधित कर मानसिक सुख को शारीरिक सुख से श्रेष्ठतर घोषित करते हैं और इसका फर्क दिखाने के लिए 'सुख' के बदले 'आनंद' शब्द का इस्तेमाल भी करते हैं, मगर इतना कुछ करने के बाद भी वह सुख और आनंद में कोई भेद नहीं कर पाते जिसके कारण उनका आनंद भी सुख का पर्याय ही हो जाता है और अंततः वह भी बेंथम की तरह सुख को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मानने वाले दार्शनिक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार दूसरे सारे सुखवादी दार्शनिक भी कमोवेश हेर-फेर के साथ सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य प्रतिपादित करते हैं। अब चूंकि यह सुख भौतिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाला पूरी तरह शारीरिक और इंद्रिय है और भौतिक वस्तुएं प्राकृतिक संसाधनों के विनाश और दोहन से उत्पादित होती हैं, इसलिए यह तार्किक परिणति के रूप में स्थापित होता है कि सुखवाद पर्यावरण संकट का दार्शनिक आधार है।

यदि भारतीय दर्शन में यह आधार खोजें तो यह भौतिकवाद के रूप में मिलता है जिसके प्रणेता चार्वाक हैं, क्योंकि वही "खाओ, पीओ और मौज करो" का सिद्धांत देकर दैहिक सुख को इस हद तक महिमामंडित करते हैं कि उसके लिए कुछ भी किया जाना अवांछित नहीं होता। अब जाहिर-सी बात है कि जब दैहिक सुख ही जीवन का अभीष्ट है और वह सुख भौतिक सामग्रियों से मिलता है तो किसी भी प्रकार से इन सामग्रियों को प्राप्त करना ही आदमी का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण और दोहन करने में भी कोई संकोच नहीं होता क्योंकि ऐसा करके ही उसे दैहिक सुख देने वाली भौतिक सामग्रियां मिल पाती हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस पर्यावरण संकट का एक सुविचारित दार्शनिक आधार है।

इसलिए इस संकट का समाधान भी व्यवस्थित विचारधारा से ही हो सकता है और यह विचारधारा भारतीय दर्शन के अध्यात्मवाद से मिलती है। अध्यात्मवाद एक आध्यात्मिक परमतत्व को मानने वाला दार्शनिक सिद्धांत है। इस परमतत्व को भारतीय दर्शन में 'ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है और उसी को मात्र सत्य मानते हुए पूरे संसार को मिथ्या माना गया है। लेकिन मिथ्या मानने का यह तात्पर्य नहीं है कि यह संसार झूठ है, जैसा कि व्याख्यायित किया जाता है और ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर इसकी सत्ता समाप्त हो जाती है। नहीं! इसका ऐसा कोई तात्पर्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का ज्ञान नहीं रहने पर संसार जैसा दिखाई पड़ता है, ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर वैसा दिखाई नहीं पड़ता। दरअसल, ब्रह्म और संसार दो भिन्न-भिन्न सत्ताएं नहीं हैं, बल्कि वे एक ही हैं। इसीलिए अज्ञान के कारण जो संसार भौतिक दिखाई पड़ता

है, ज्ञान हो जाने पर वही आध्यात्मिक ब्रह्म दिखने लगता है। गौड़पाद और शंकराचार्य जैसे दार्शनिकों से लेकर विवेकानंद और अरविंद जैसे दार्शनिकों तक ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए इसकी विस्तृत व्याख्या की है। स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिक ओशो (रजनीश) ने भी इसे बड़े सरल शब्दों में समझाते हुए कहा है-"परमात्मा के निकट जैसे-जैसे तुम जाओगे, वहां परमात्मा में संसार और मोक्ष एक ही घटना है। वहां बनाने वाला और बनाई गई चीजें दो नहीं हैं; वहां सृष्टि और सृष्टि एक ही है। वहां तुम ऐसा न पाओगे कि यह वृक्ष अलग है परमात्मा से। तुम इस वृक्ष में परमात्मा को ही हरा होते हुए पाओगे।

(37) इसका परिणाम यह होता है कि आदमी न केवल आदमी से बल्कि आदमी के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य सभी जीवों, वनस्पतियों और निर्जीव वस्तुओं से भी आत्मीय रिश्ता बनाना चाहता है, क्योंकि सब एक ही परम सत्ता की अनंत अभिव्यक्तियां होने के कारण तत्त्वतः एक ही हैं। फिर किसी दूसरे जीव एवं दूसरी वस्तुओं को नुकसान पहुंचाना वास्तव में अपने को ही नुकसान पहुंचाना है। इसलिए अपने दैहिक सुख के लिए, अपनी भौतिक सुविधाओं के लिए दूसरे प्राणियों का, वनस्पतियों का, नदियों-पहाड़ों का तथा जमीन-जंगलों का विनाश करना अंततः अपना ही विनाश करना है। यही बोध, इसी तथ्य का ज्ञान आदमी को प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण और दोहन करने से रोक सकता है तथा प्रकृति को प्रदूषित करने से बचा सकता है।

इस अध्यात्मवाद की नींव पर ही वह संस्कृति विकसित हो सकती है जो उपभोक्तावादी न हो। विजय कुमार फ्रेड्रिक जेमसन के हवाले से आज की संस्कृति पर विचार करते हुए कहते हैं-"संस्कृति का अर्थ अब केवल आनंद और आमोद-प्रमोद है। वस्तुओं के उपभोग की जीवन-शैली ने हमारे समय में एक असामान्य किस्म के सुखवाद को फैलाया है। वस्तुओं की तरफ एक बदहवास दौड़ है। वस्तुओं के प्रति यह पूजा-भाव अब जीवन के सारे पहलुओं का प्रतिनिधित्व करने लगा है।" अध्यात्मवाद इस प्रतिनिधित्व को बदल सकता है। वह वस्तुओं के बदहवास उपभोग की जीवन-शैली के बदले वैसी जीवन-शैली अपनाने और विकसित करने में मदद कर सकता है जो जरूरी उपयोग पर आधारित होने के कारण संतुलित और प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण हो जिसमें सादगी का मूल्य हो और त्याग की महत्ता हो। ऐसी ही जीवन-शैली के निर्माण के लिए गांधीजी ने पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना कर, क्योंकि वह केवल भौतिक सुख का हिमायती है, मन की वृत्तियों की हद बांधने की बात कही थी। उन्होंने कहा था "मनुष्य की वृत्तियां चंचल हैं। उसका मन बेकार की दौड़-धूप किया करता है। उसका शरीर जैसे-जैसे ज्यादा दिया जाए जैसे-वैसे ज्यादा

मांगता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भी भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसलिए हमारे पूर्वजों ने भोग की हद बांध दी।” यद्यपि गांधी ने यह बात एक शताब्दी पहले कही थी, परंतु वह आज भी अर्थपूर्ण है क्योंकि इस हद की जरूरत तब से ज्यादा अब बढ़ गई है।

वह इसलिए कि इस हद के द्वारा ही भौतिकवादी विकास के विचार को बदलकर एक ऐसे विकास का विचार प्रतिपादित किया जा सकता है जो केवल उद्योग केंद्रित न हो और जिसमें भौतिक वस्तुओं का उपभोग जीवन का अभीष्ट न हो। यह विकास एकांगी नहीं होकर सर्वांगीण होगा, क्योंकि इसमें केवल शारीरिक सुख की ही वकालत नहीं होगी बल्कि आत्मिक उत्थान की भी अहमियत होगी। यह एक संतुलित और संपूर्ण विकास होगा। यह संतुलन और संपूर्णता काल और वर्ग के दृष्टिकोण से भी होगा। इसलिए इस विकास में केवल वर्तमान की चिंता नहीं होगी बल्कि भविष्य का ख्याल भी होगा और यह सिर्फ कुछ थोड़े से लोगों की सुख-सुविधा का हिमायती होगा।

सच्चिदानंद सिन्हा ऐसे विकास का मसौदा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, “इसमें मनुष्य की नियति प्रकृति पर या वनस्पति जगत समेत अन्य प्राणियों पर विजय प्राप्त करना नहीं, उनके साथ एक नये तरह का तादात्म्य स्थापित करना है। आज पर्यावरण की सुरक्षा, जो अन्य जीवों और वनों की रक्षा से जुड़ी है, मानव प्रजाति के स्वयं जीवित रहने की अनिवार्य शर्त दिखाई देने लगी है। पर्यावरण के संतुलन को बनाए रखने के लिए विकास के लक्ष्य को बिल्कुल बदल देना जरूरी दिखाई देता है। इस दृष्टि से आदमी की जरूरतों को बढ़ाने और इसके लिए उपभोग की वस्तुओं के असीम विस्तार की जगह आत्म-नियंत्रण पर बल दिया जाता है। वस्तुओं का उत्पादन वहीं तक हो, जितना मानव के शारीरिक और आध्यात्मिक विकास के लिए जरूरी है—उपभोग का ऐसा स्तर जो न इतना कम हो कि अभाव से आक्रांत मनुष्य की सारी ऊर्जा आवश्यक उपभोग की वस्तुएं जुटाने में ही लग जाए और न ही इतना ज्यादा कि वस्तुओं का अंबार लगाने में ही मनुष्य का सारा कार्यकाल और कल्पना खत्म हो जाए।”

विकास के ऐसे विचार विकसित होने के लिए वस्तुओं का भंडार जमा करने की आवश्यकता नहीं होगी। फिर उनके उत्पादन के लिए न तो प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट करने की जरूरत होगी और न प्रकृति को प्रदूषित करने की। फिर हम प्राकृतिक नियमों के हिसाब से जल, जमीन, आग, हवा तथा वनस्पति आदि का उस अनुपात में उपयोग कर पाएंगे जिससे कि प्रकृति में उनका संतुलन बिगड़ने न पाए। तभी पर्यावरण की सुरक्षा और विकास दोनों साथ-साथ संभव हो पाएंगे। □

Unselfish Work is True Renunciation

- Swami Vivekanand

This world is not for cowards. Do not try to fly. Look not for success or failure. Join yourself to the perfectly unselfish will and work on. Know that the mind which is born to succeed joins itself to a determined will and perseverance. You have the right to work, but do not become so degenerate as to look for results. Work incessantly but see something behind the work. Even good deeds can find a man in great bondage. Therefore be not bound by good deeds or by desire for name and fame. Those who know this secret pass beyond this round of birth and death and become immortal.

In one of his discourses at a western American town, Swamiji said that one who has attained absolute truth or knowledge remains the same under all circumstances; he is always calm and unruffled by things external. A few churlish cowboys heard this lecture and decided to test him. When Swamiji went to their village to deliver a lecture they asked him to stand on a reversed tub and address the gathering.

Swamiji did as requested and then became absorbed in his subject. The cowboys meanwhile started firing from close range, the bullets whizzing past Swamiji's ears. This did not perturb Swamiji in the least. He continued his speech with as much composure as he started it. When he had finished, the cowboys surrounded him, shook hands with him and declared : 'Yes Swami, you are absolutely genuine. You are what you preach!'

A north Indian pundit once came to Swamiji with the intention of outshining him in a discussion of Vedanta, but Swamiji was in no mood then to discuss Vedanta. He was constantly thinking about the people groaning under the impact of the country-wide famine. He said, 'Punditji, first of all try to ameliorate the terrible distress that is prevailing everywhere, to still the heart-rending cry of you hungry countrymen for a morsel of food; after that come to me to have a debate on the Vedanta. To stake one's whole life and soul to save thousands who are dying of starvation-this is the essence of the religion of the Vedanta.' □

A Poem by Swami Vivekanand

One drunk with wine of wealth and power
And health to enjoy them both, whirled on
His maddening course, fill the earth, he thought,
Was made for him, his pleasure - garden and main,
The crawling worm, was made to find him spot,
Till the thousand lights of joy, with pleasure fed,
That flickered day and night before his eyes,
With constant change of colours, began to blur,
His sight and cloy his senses, till selfishness,
Like a horny growth, had spread all over his heart,
And pleasure meant to him no more than heart,
Bereft of feeling, and life in the sense,
So joyful, precious once, a rotting corpse between his arms,
Which he fore-sooth would shun, but more he fired, the more,
It clung to him, and wished, who frenzied brain,
A thousand forms of deaths, but quailed before the charm,
Then sorrow came-and Wealth and Power went
And made him kinship find with all the human race
In groan and tears, and though his friends would laugh,
His lips would speak in grateful accents.

"O Blessed Misery".

Compiled by - **Dr. M. P. Gupta**

Vivekanand-A Pioneer of Freedom Movement

- **K. N. Aggarwal**

If we were to sum up the opinion of all the contemporaries of Swami Vivekanand viz Sri Aurobindo; Dr. B.N. Dutta; Mother Sarada Devi, Sister Nivedita, Sri Harish Chandra Ghose, Kalicharan Ghose, Dr. Rash Bihari Ghose and Netaji Subhas Chandra Bose; he was mainly instrumental in laying down the foundation of India's freedom movement by reviving the spirit of nationalism in the Indian psyche. The primary object of Swamiji was Nationalism. The Chief mission of his life was to arouse the sleeping lion of India and to put it on its proper pedestal. The idea of nationalism of Swamiji was a sacred ideal and its in-most striving was to express its own conception of ideal manhood. He gave a national, almost dramatic definition of religion. 'Strength is religion'. He declared; 'The essence of my religion is strength. The religion that does not infuse strength into the heart is no religion to me, be it of the upanishads, the Gita or the Bhagwat. Strength is greater than religion and nothing is greater than strength.

The fact that Vivekananda directly influenced the Indian revolutionary movement in the cause of achieving freedom is borne out of the statement that Mother Sarada Devi made sometime after passing away of the Swami. 'Had Naren been living now, he would have been in company's jail.' It will be quite germane to list some of Swami's inspiring words here.

"Ye, sons of immortal bliss' Amrutasyaputrah. The very touch and tone electrified all with enthusiasm and surrender. He stressed on cadre-building for a noble cause. He was not happy with the ways of the Indian National Congress. That is not the way to build up Patriotism any where. A beggar's bowl has no place in Banik's (merchants) world of machine, mammon (God of wealth) and merchandise. Everything has got to be controlled and directed by the invocation of human conscience, that is, Mahamaya's voice the latent energy in man. The Swami asserted-'First thing first' he went on' and body building and

dare-devilry are the primary concerns before the buoyant young Bengal, Honour Women-folk, as the physical embodiment of Mahamaya herself and the Motherland itself in human form.

The ferment created by Swamiji in the intellectual plane burst forth after his death, in Bengal with the emergence of Sri Aurobindo as the leader of a revolutionary movement. After his return from the West the second time, Vivekananda told a gentlemen what India needs today is Bomb made its appearance in Bengal. Since the foundation of the Revolutionary party in Bengal, the works of Swamiji alongwith the writings and life of Mazzini, Garibaldi were the main spring of inspiration to the Indian youth. The revolution could not come forth in his lifetime because many things did not work out to his scheme of things. He bemoaned, India is in putrifaction. What I want today is a band of selfless young workers who will educate and uplift the people.'

The world knows to its advantage the part played by Swamiji in the regeneration of India in general and Bengal in particulars and getting the soil eminently nurtured for Tilak, Aurobindo and others to sow the seeds of revolution. In the fullness of time, the young sapling grew into a vigorous tree that stretched its mighty branches for and wide and become a terror to the rulers of India here and in their distant is land home, with its weird fruits pregnant with bomb and bullets. Though Swamiji's mission was a spiritual one the spirit of nationalism that he aroused in the country made agents of pritish empire afraid of him. The fire he helped to rekindle in this ancient land of ours was responsible for scorching the bonds which had kept India a slave. So we must remember that Swamiji was a pioneer in politics.

Netaji Subhash Chandra Bose who gave the final blow which brought the British Empire cashing down proclaimed, "So far, at least Bengal is concerned, Swami Vivekanands may be regarded as the spiritual, father of the modern nationalist movement. His message is the root of India's freedom struggle. He was responsible for our freedom movement. It was he who started the Bengal movement. Only after him, the Bengal awakening came and then came Sri Aurobindo to give the lead. But for Vivekananda India's freedom movement would not at all have started. Imbued with a new strength leaders in all walks of life emerged and Mahatma Gandhi, the father of the nation made us achieve our goal of Independence. Q

Hinduism and Swami Vivekanand

- O. P. Saxena

The world Parliament of Religions, Which was held in the city of Chicago in September 1893, was undoubtedly one of the greatest events in the history of the world marking an era in the history of religion, especially of Hinduism. It was a parliament of humanity. It roused a wave of new thought in the Western world that there were other religious more venerable than Christianity, which surpass it in phillosophical depth and spiritual intensity. Swami Vivekanand in his address to the parliament introduced Hinduism as "The Mother of Religions", a religion which has taught the world-both tolerance and universal acceptance. He gave forth the ideas of the Hindus concerning the soul and its destiny, he explored the dectrine of Vedanta philosophy which harmonises all religious ideas and all forms of worship. Sister Nivedita has with great insight described the general import of his address at the Parliament in the following words.

(40)

"Of the Swami's address before the Parliament of Religions it may be said that when he began to speak, it was the religious ideas of the Hindu; but when he ended, Hinduism had been created."

Hindusim is the popular name for the distinctive culture of Bharatvarsa. Hindusim is not a static system, nor a fixed moral, social or religious code, but a living and growing dynamic spirit. It is not a religion in the sense in which Christianity or Mohammedanism is a religion. It has envoled out itself of a multitude of religious, each of which bears analogy to Christianity and Mohammedanism, Saivism, Vaisnavism etc., are religions born and brought up within the bosom of Hindusim. Each of them has a set of doctrins and beliefs, a distinct conception of God, a particular time of worship, implicit faith in some prophet, scriptures and a definite idea of the highest destiny of human soul. Hinduism as a whole does not posses any such distinct feature to distingnish it from other system of religion. It has evolved and preserved within its fold even such religious communities who have no faith in God or in the soul or in both, but have systematic courses of moral and religious discipline for attainment of high spiritual end.

Unlike Christianity and Mohammedanism, it has never depended upon the authority of any particular prophet or messiah or upon any particular scripture.

In India there is freedom to choose one's own religion. It is the only way to make religion meet practically the necessities of different constitutions, to avoid quarrelling with others, and to make practical progress in spiritual life. In western countries people were not allowed to speak a word about religion that did not agree with the views of the church.

Swami Vivekanand was the first authoritative exponent, to the western nations, of the ideas of vedas and upanishad. The cardinal features of Hinduism are founded on the meditative and speculative philosophy and on ethical teachings contained in the various books of the ideas which assert that the universe is infinite in space and eternal in duration. It never had a beginning and it will never have an end. A man is essentially the Divine spirit, though embodied in a psycho-physical organism. The bodily organism has its birth and growth, decay and death; but the spirit soul of a man has no birth or death. It is immortal. It takes up the body temporarily to play its part in the divine world. It may change one body for another. There is no eternal relationship between any particular body and soul. A man need not identify himself with the body. In Western countries, as a rule, people lay more stress on the body aspect of man. There man wants to worship and because God is the means to attain sense enjoyment. In every day life we find that the less sense enjoyment, the higher the life of the man. The object of life is to learn the laws of spiritual progress.

Divinity is the essence of humanity and the realization of this divinity is the ultimate ideal of human efforts. Religion being the general name for the entire system of self discipline necessary for attaining this goal. It is religion done, truly understood and practised that can establish real and permanent harmony in human society and in the relation between individuals, communities and nations. Humility and absence of conceit is indispensably necessary for spiritual progress and hence intolerance and respect for the religious views, practices and sentiments of the people of all communities are also essential conditions for the spiritual self-development of the followers of every reli-

gions sect.

Image-worship is a part and parcel of Hinduism. This has a great spiritual significance, in as much as it awakes in the heart of all men and women the feeling that the infinite and essential Supreme spirit, the supreme source of all existence, is vividly present before their eyes in finite forms to receive their humble offerings and to bestow all kinds of blessings upon them. It has played an important part in this spiritual training of the Hindu mind. The divinity of nature also was brought home to Hindu mind through the worship of sacred rivers, sacred mountains and other places of sacred associations. Insistence on pilgrimage to sacred places scattered over all over India ensured keeping alive the sense of unity of all parts of the vast country.

(41)

Vivekanand presented Hinduism as the mother of religions which lays emphasis on the creed "Accept and understand one another". Each religion must assimilate the spirit of the other and yet preserve its individuality and grow according to its own laws of growth. Holiness, purity and charity are not the exclusive possession of any one of the most exalted character. He advocated the spirit of universal tolerance and acceptance, spirit of love and compassion and spirit of assimilation. Age after age, Hinduism had to face formidable political, social, cultural and spiritual forces which made their way into it and sometimes to take possession of it. But its unique vital capacity to survive all such struggles but also with a still more wonderful capacity for absorption and assimilation so as to swallow those apparently destructive forces into its own system and convert them into good material for self-reconstruction, self development, self-explanation and self-fulfilment.

The loftiest message of Hinduism is that man is essentially a spiritual being; the world is ultimately a spiritual entity and the soul of every individual is identical with the soul of the whole universe. It proclaims that all differences which we actually experience are non essential and as such apparent and illusory and that the spiritual unity, which transcends all conditions of time and space, is alone truly real from the absolute point of view.

q

Swami Vivekananda's Concept of Indian Culture

- C.S. Krishna Das & D. Vasudevan

The history of India teaches that certain fundamental values have been cherished through ages as more or less a definite ideal of civilisation. Our society, however rich in its heritage, would be able to stabilise itself for ever at a particular level due to political and social changes.

In the 19th century, under the impact of the British rule, India was in a cultural crisis; she was called upon to meet the challenge of the ideology of the West and save her rich heritage from complete collapse before the onslaught of the west.

Swami Vivekananda made his historic advent at a moment when the country had lost its cultural moorings. The monk-patriot was also a witness to the cultural chauvinism of the imperialists historians deriding Indians as barbarians, of slavish mentality and no morality or truthfulness. He could see educated youth drifting to Western ways of life.

Another pernicious effect was that of the Christian missionaries who propagated that the cause of all degeneracy, immorality and abomination was Hinduism.

Thus Vivekananda became a historic necessary for the cultural historic necessity for the cultural reawakening. Inspired by the philosophy of the Upanishads and the catholicity of Sri Ramakrishna, he emerged as a practical Vedantic, embodying the very spirit of Indian culture. As a staunch nationalist and a great patriot, Swamiji made use of Indian history and culture as an effective tool to rouse collective consciousness and to drive home the message of nationalism.

It is against this background, that Swamiji's ideas on Indian culture crystallised into a blueprint of action for his mission. He believed firmly that the philosophy of Indian culture is basically humanistic, with no doctrinal or sectarian bias; he viewed culture solely from the human standpoint; his conviction was that no society had developed a culture which is perfect.

As such, human civilisation can survive only on the basis of harmony of cultures. The Swamiji was a votary of the concept of a synthesis of the East and West.

In other words, Vivekananda considered culture as the greatest integrating force of mankind. He did not formulate any theory of culture, for he was not a professional historian or sociologist; however as philosopher and deep thinker, he contributed a great deal to a philosophy of culture by validating the basic elements of Indian culture. He interpreted Indian culture as a religious culture growing through ages by promoting spirituality. True religion is spiritual; the remedy for the ills of the Indian society caused by the Western domination, lay in the readaptation of values of religious culture represented by ancient India.

The Swami ji identified religion and spirituality as the key note of Indian culture. Religion is the bedrock upon which the national edifice has been built. He asks, "Did you ever hear of a country where the greatest kings tried to trace their descent not to kings, not to robber-barons living in old castles...but to semi naked sages who lived in the forest?"

(42)

Vivekananda challenged to show one single period of her national life when India was lacking the spiritual giants capable of moving the world. Her influence has always fallen upon the world like that of the gentle dew, unheard and scarcely marked, yet bringing into bloom the fairest flowers on earth. To him, the one melody that has been haunting the Indian mind for ages is spiritual. No wonder to this day, spirituality is the essence and core of our national life.

Deeply influenced by the eternal religion of the Vedas, Vivekananda had absolute faith in the Upanishads as the "primary authority" and anything that contradicts it should be rejected. His interpretation of Hinduism was so refreshing when he said that "Smrithis" or social laws must change according to the needs of the time whereas the Upanishadic principles, the "Sruti" stand eternal and immutable.

To his mind Hinduism was not to remain a stationary system but to prove capable of embracing the whole modern thought. There was no congeries of divided sects but a single living Mother Church...the holder of a definite vision, the preacher of distinct message amongst nations.

Swamiji's conception of Hinduism as universal religion, of Advaita as the rationale of all philosophies and the end of all sciences, is probably his holistic contribution to the world by the way of interpreting Indian culture.

By Universal Religion he did not mean any universal philosophy, mythology or ritual to be held alike by all. He maintained that the Truth can be expressed from different standpoints. Universal religion would transcend all barriers of time and space, class and creed so as to include the ideals of all religions under which there is no place for persecution and intolerance. Swami ji said, "He who gets the whole must have the parts too."

This spirituality and not materialism is the keynote of Indian civilisation is a recurring theme, flashed in all the speeches and writings of the Swamiji.

As a cyclic phenomenon, he saw spirituality and materialism alternately dominating Indian society. India struck a note of excellence in creative arts and literature when spirituality was in ascendancy. The Buddhist and Gupta periods are some such examples in the history of ancient India. "The more advanced a society or nation is in spirituality, the more is society or nation civilised."

Nevertheless, the Swamiji was cognisant of the material needs of culture, more so the material progress of the Indian society. He asks, "How was it possible for the Hindus to have been conquered by the Mohammedans? It was due to the Hindu's ignorance of material civilisation."

"Material civilisation, nay, even luxury is necessary to create work for the poor. Bread, bread!! I do not believe in a God who cannot give me bread here, giving me eternal bliss in Heaven".

Swamiji's interpretation of Indian culture is an echo of the India spirit soaked in universalism. His message is that India can readapt her traditional values to the changing needs of time.

q

Preserving Religious Diversity

- Atal Behari Vajpayee

The pages of human history witness several great sannyasins who have sacrificed their life for others to alleviate the misery of millions for whom suffering as a rule rather than exception, to enlighten the ignorant and to awaken sleeping carriers of social awakening. Among them all, the name of Swami Vivekananda is always first.

The life of Swami Vivekananda was full of trials and tribulations which were pre-determined as Malcolm Muggeridge has rightly observed that "In all the larger shaping of a life, there is a plan already, into which one has no choice but to fit", to dedicate his life for the welfare of fellow beings and spread the value of humanity and spirituality across the world.

(43) The great book of life revealed to him what all the books in the libraries could not have done, which even Sri Ramakrishna's ardent love and only been able to see dimly as in a dream-the tragic face of the present day, the God struggling in humanity, the cry of the people of Indian and of the world for help, and the heroic duty of the new Oedipus.

In fact, his life is a living example of a passionate journey for the betterment of society which inspires millions giving them a purpose in life, "*Atmano mokshartham jagad hitaya cha*" - "*For one's own salvation, and for the welfare of the world*".

The first verse he learnt on the first day he went to school: "he indeed is a learned man who looks upon all women as his mothers, who looks upon every man's property as so much dust, and looks upon every being as his own soul." The seed of his learning further roped in the early childhood when he learnt the heart one of the lessons from a little book on ethics:

"For the good of a village a man ought to give up his family; for the good of a country, give up his village; for the good of humanity, give up his country and for the good of the world, everything."

With the passage of time the seed of goodness roped in Vivekananda, transformed into such a vast tree under the shadow of which millions of people across world have taken spiritual rest and made their life purposeful, fulfilling his desire: "As one born on this earth, leave an impression on it."

But before being able to make loud pronouncement "One names will be recorded in history!", his life journey is a living example of sacrifice so as to leave this world a better place for future generation. He practically took difficult decisions during trying times of his life

His life journey is a living example of sacrifice so as to leave this world a better place for future generation. He practically took difficult decisions during trying times of his life when he had to choose between two worlds i.e. on the one side his mother and brothers who were starving and he was the only hope of the family, and on the another that Sri Ramakrishna's ideas were for the good of India as well as world, and had to be preached and worked out.

when he had to choose between two worlds, i.e. on the one side his mother and brothers who were starving and he was the only hope of the family, and no the another that Sri Ramakrishna's ideas were for the good of India as well as world, and had to be preached and worked out.

Through deep meditation at such periods, he learnt that no great thing can be done without sacrifice. The heart must be plucked out and the bleeding heart placed upon the altar; only then great things are done. It is even better that a few persons suffer, than such ideas die out.

Nature had endowed Vivekananda with a deep religious disposition since childhood.

He was aware that the secret of religion lay not in theories but in practice. Every true soul since ancient days avoided theoretical discussion of scriptures rather than meditating on them, as the Persian proverb statues "Seek truth in meditation, not in mouldy books. Look in the sky to find the moon, not in the pond."

Recalling his early spiritual experiences, Swamiji once stated,

"Every night as I went to bed, two visions floated before my mind's eye. One pictured me as a successful man of the world, occupying the foremost place in society, and I felt that I actually had the power to carve out such a place for myself. A moment later would come the other vision, in which I found myself as a wandering monk, dressed in a loincloth, living on chance morsels of food and spending solely on God. I felt too, and I thought that the life of a monk was the noblest on earth, and that I would embrace it."

It was his dare-devil nature since childhood, English education and frequenting the Brahmo Samaj, that led Vivekananda to verbal expression of truth and quest to know about religion. It was his inner thrust to know the truth about spirituality that led him to ask his mentor, Shri Ramakrishna Paramahansa: "Have you seen God, sir?" which got a pleasant response "Yes, I see him just as I see you here, only in a much intense sense."

(44)

"God can be realised," he went on; "one can see and talk to him as I am seeing and talking to you. But who cares? People shed torrents of tears for their wife and children, for wealth or property, but who does so for the sake of God? If one weeps sincerely for Him. He surely manifests Himself."

This deep realisation of his master of god made a great impact on Swamiji's thought process. Wherever ones heart is, there will his mind also be. Having God, one will have all else. As Jesus said, "Seek ye first the kingdom of God, and His righteousness; and all these things shall be added into you."

The magic touch of his master in his first three visits, brought a change over his mind and an immortal bond with his mentor got developed. His failure thrice to strike at the door of God for the removal of his pecuniary wants resulted in feeling terrible shame on the third visit, "What a trifle I have come to pray to the Mother about! It is like asking a gracious king for a few vegetables! What a fool I am! In shame and remorse I bowed to Her respectfully and said, "Mother, I want nothing but knowledge and devotion."

The above incident changed Vivekananda's life, an incident due to which the secret of the worship of a personal God was revealed to

him...and of course his prayer was duly heard, lending a fullness and breadth to his vision.

Making a bond with his master for Vivekananda did not mean to forget to fulfil his thrust for reason and let awareness about the Reality to the master. Even at first he did not accept most of what his master told him. He once said, "I did not hesitate to say harsh words to him for his blind love for me without considerations of self-respect. I used to warn him that if he thought constantly of me, he would become like me, like legendary King Bharata who doting upon his pet deer was born in his next life as a deer !

These words had their effect on his childlike mind. He was alarmed to think of the probable consequences of his love for me. He said, "What you say is quite true. Then what will become of me, for I cannot bear your absence." But, as time passed on, more and more did he understand from experience that what the master said was right.

In the midst of all troubles and tribulations he found the correct way and first contact with the reality of life, convinced him that unselfish sympathy was a rarity in the world-there was no place in it for the weak, the poor, and destitute. Rightly stated "Blessed is the man whom the Lord doth test!" as these testings made him a strong believer of God.

The sweetest moment of his life was when Swamiji was drifting; drifting with the bright warm sun ahead and masses of vegetation around-and in the heat everything so still, so calm-and he was drifting languidly in the warm heart of the river !. He dare not make a splash with his hands or feet, for fear of breaking the marvellous stillness, stillness that makes one feel sure it is an illusion !

The great lesson which his master taught him hundreds of times, yet he often forgot is to first form character, first earn spirituality and results will come to themselves with his favourite illustration.

The great lesson which his master taught him hundred of times, yet he often forgot is to first form character, first earn spirituality and results will come of themselves with his favourite illustration "When

the lotus opens, the bees come of their own accord to seek honey; so let the lotus of your character be full-blown and the result will follow." Let your life be as deep as the ocean, but let it also be as wide as the sky.

A single word which he learnt from his master which he weighed with the Vedas and the Vedanta was - "*Tasya dasadasadosa' ham*"- Oh; I am the servant of the servants of his servants.

Vivekananda knew that Sri Ramakrishna possessed certain power, but his natural yearning for God prompted him to delay acceptance of the offer until he could give it due consideration.

After reflecting for a moment he asked, "Sir, will these powers help me towards God-realisation?"

Shri Ramakrishna replied, "No, they will not do that, but they will be very helpful to you when, after realising God, you engage yourself in His work."

Narendranath said, "Then I do not want them. Let me first realise God, and afterwards I shall decide whether I want them or not. If I accept these wonderful powers now, I may forget my ideal, and make use of them for some selfish purpose, causing ruin."

Lord Buddha said "Let no man think lightly of good. saving in his heart, 'it will not come nigh me'. By the falling of water drops a pot is filled; the wise man becomes full of good, even if he gathers it little by little."

The most vital idea which he learnt from his master was the wonderful truth that the religions of the world are not contradictory or antagonistic and they are but various phases of one eternal truth. That one eternal religion is applied to different planes of existence, is applied to the opinions of various minds and various races. Hence he decided this ideal should not only spread, but made practical. He became firm to show the spirituality of the Hindus, the mercifulness of the Buddhists, the activity of Christians, the brotherhood of Muslims, by practical life.

In the presence of his master, Sri Ramakrishna, he found out that man could be perfect, even in this body whose lips never cursed anyone, never even criticised anyone, whose eyes were beyond the possibility of seeing evil, whose mind had lost the power of thinking evil and saw nothing but good.

The most vital idea which he learnt from his master was the wonderful truth that the religions of the world are not contradictory or antagonistic and they are but various phases of one eternal truth. That one eternal religion is applied to different plans of existence, is applied to the opinions of various minds and various races.

Vivekananda realised that tremendous purity, that tremendous renunciation of his master is the secret of spirituality..."Neither through wealth, nor through progeny, but through renunciation alone, is immortality reached," say the Vadas, "Sell all that thou hast give to the poor, and follow me," says Christ.

Years later, in New York, when he finished a series of lectures in his beautiful discourse; My Master, despite utter surprise of others, he did not allow to publish it. When asked, he replied with burning humility, "I did not allow it to be published as I have done injustice to my Master. Mr Master never condemned anything or anybody . But while I was speaking of him, I criticised the American people for their Dollar-worshipping spirit. That day I learnt the lesson that I am not yet fit to talk of him."

Many times during the struggling phase of his life, he had been in the jaws of death, starving, footsore and weary; for days and days he had no food, and often could walk no farther; we would sink down under a tree, and life would seem ebbing away. He became unable to speak, he could scarcely think, but at last he learnt that whenever darkness comes, assert the reality and everything adverse must vanish.

In his own words: "I have no fear nor death; I never hunger nor thirst. I am it ! I am it! The whole of nature cannot crush me; it is my servant. Assert thy strength, thou Lord of lords and God of goods!

One of the greatest lessons he learnt in life is to pay as much attention to the means of work as to its end.

Regain thy lost empire! Arise and walk and stop not!" That is a lesson for all life-face the terrible, face it boldly. Like the monkeys, the hardship of life pull back when we cease to flee before them.

One of the greatest lessons he learnt in life is to pay as much attention to the means of work as to its end. He clearly stated that he has been always learning great lessons from that one principle, and it appears to be that all the secret of success is there. He learnt that through concentration of mind everything can be accomplished, even mountain can be crushed to atoms.

In his life journey, he met several people through whom he learnt great lessons of life. It may be quite amazing, but true that a little dancer gave him unwittingly a lesson in humility which affected his entire life. He himself has once said : "At twenty years of age I was the most unsympathetic, uncompromising fanatic; I would not walk on the foot-path on the theatre side of the street in Calcutta. During the first months of his pilgrimage when I was with the Maharaja of Khetri near Jaipur when a little dancer appeared, I rose to go out. The prince requested me to remain. The little dancer sang the poem of Suradas:-

(46)

'O Lord, look not upon my evil qualities ! Thy name, O Lord, is Same-sightedness. Make of us both the same Brahman! One piece of iron is in the image in the temple, and another is the knife in the hand of the butcher. But when they touch the philosopher's stone both alike turn into gold. So Lord, look not upon my evil qualities! Thy name, Lord, is same-sightedness...'

'One drop of water is in the sacred Jamuna and another is foul in the ditch by the roadside. But when they fall into the Ganga both alike become holy. So, Lord, do not look upon my evil qualities. Thy name, Lord is Same-sightedness...'

Vivekananda, was completely overwhelmed on hearing these lines. The confident faith expressed in the meaningful song deeply moved him.

In the Himalayas, he lived among Tibetan tribes, who practise polyandry, he was the guest of a family of six brothers, who shared the same wife; and in his neophytic zeal he tried to show them its immorality. But, it was they who scandalised by his lessons said. "What selfishness!" They said. "To wish to keep one woman all to oneself...Truth at the bottom of the mountain and error at the top"...

He realised the relativity of virtue-at least of those virtues having the greatest traditional sanction. As in the case of Pascal, taught him to broaden his moral conception when he judged good and evil in a race or in an age, according to the standards of that race or that age.

He realised that man learns as he lives, and experience is the greatest teacher in the world. He stated: "...Often and often, we see that even the best of men are troubled and visited with tribulations in this world; it may be inexplicable; but it is the experience of my life that the heart and core of everything here is good, that whatever may be the surface waves, deep down and underlying everything, there is an infinite basis of goodness and love; and so long as we do reach that basis, we are troubled; but having once reached that zone of calmness, let winds howl and tempests rage. The house which is built on a rock of ages cannot shake".

Vivekananda found that his religion is not liberation or devotion; rather go to a hundred thousand hells, "*vasanta-vallokahitam carantah*-doing good to others (silently) like the spring"-is his religion. "Sannimite varam tyago vinase niyate sati-When death is certain, it is best to sacrifice oneself for a good cause."

He wanted to give other dry, hard reason, softened in the sweetest syrup of love and made spicy with intense work, and cooked in the kitchen of Yoga, so that even a baby can easily digest it.

He once stated "we will do great things for the world, and that for the sake of doing good and not for name and fame."

*Sarvasastrapuranesu
vyasasya vacanam dhrauvam
Paropakarah punyaya
papaya parapidanam*

"Amidst all the scriptures and Puranas, know this statement of Vyasa to be true, that doing good to others conduces to merit, and doing harm to them leads to sin"....

Vivekananda was not like most of us who do not know the purpose of life and what is to be done in life. While talking about his life work, he stated "To put the Hindu ideas into English and then make out

of dry philosophy and intricate mythology and queer starting psychology, a religion which shall be easy, simple popular and at the same time meet the requirements of the highest minds-is a task only those can understand, who have attempted it. The dry, abstract Advaita must become living-poetic-in everyday life; out of hopelessly intricate mythology must come concrete moral forms; and out of bewildering Yogiism must come the most scientific and practical psychology-and all this must be put in a form so that a child may grasp it. That is my life's work."

While talking about his ideal of religious life, he observed, "You must try to combine in your life immense idealism with immense practicality. You must be prepared to go into deep meditation now, and the next moment you must be ready to go and cultivate those fields. You must be prepared to explain the intricacies of the Shastras now, and the next moment to go and sell the produce of the fields in the market."

The object of the monastery was man-making. 'The true man is he who is strong as strength itself and yet possesses a woman's heart.'

(47)

He once stated "He whose joy is only in himself, whose desires are only in himself, he has learned his lessons." This is the great lesson that we are here to learn through myriads of births and heavens and hells-that there is nothing to be asked for, desired for, beyond one's self. "The greatest thing I can obtain is myself." I am free, therefore I require none else for my happiness. "Alone through eternity, because I was free, am free, and will remain free forever."

This is Vedantism. I preached the theory so long, but oh, joy...I am realising it now every day. Yes, I am-"I am free." "Alone, alone, I am the one without a second."

The great lesson he learnt is that life is misery. Each one of us is in the hands of Karma-it works out itself, and no nay hence he clearly stated that there is only one element in life which is worth having at any cost-and it is love. Love immense and infinite, broad as the sky and deep as the ocean. This is the one great gain in life and blessed are those who get it. Even when he was in western land, he clearly observed that "Beyond, beyond reason and learning and talking is the feeling, the "Love," the "Beloved".

While emphasising on love, he once stated:-"What is life but growth i.e. expansion, i.e. love? Therefore all love is life; it is the only law of life. Money does not pay, nor name; fame does not pay, nor learning. It is love that pays. I find, as I always thought, that it is through the heart, and that alone, that the world can be reached..."

He further observed "We may read books, hear lectures, and walk miles, but experience is the one teacher, the one eyeopener. It is best as it is. We learn, through smiles and tears. We do not know why, but we see it is so; and that is enough...I wish we could all dream undisturbed good dreams..." and finally he stated "The experience of all my life, up to now, has taught me, thank God, that I always find what I am looking for with eagerness. Sometimes it is after much suffering, but it does not matter! All is forgotten in the softness of the reward."

When one of his lay disciples pointed out the difficulty of establishing unity and harmony in India, he replied "After so much Tapasya (asceticism) I have known that the highest truth is this: 'He is present in every being ! These are all the manifold forms of Him. There is no other God to seek for! He alone is worshipping God, who serves all beings!" he added : If in this hell of a world one can bring a little joy and peace even for a day, into the heart of a single person, that much alone is true; this I have learnt after suffering all my life; all else is mere moonshine".

As he lay dying, his great pride realised the vanity of pride, and discovered that true greatness lay in little things: 'The humble heroic life.'

"As I grow older," he said to Nivedita, "I find that I look more and more for greatness in little things....And anyone will be great in a great position. Even the coward will grow brave in the glare of the footlights. The world looks on! More and more the true greatness seems to me that of the worm doing its duty silently, steadily from moment to moment and hour to hour."

He shared the life with millions of people, entered into their joys and sorrows, rejoiced with them, mourned with them, but through it all, he never forgot who he is, whence he came, or what the purpose of his coming. He never forgot his divinity. He remembered that he is the

great, the glorious, the majestic Self. He knows that he came from that ineffable, supernal region which has no need of the sun or moon, for it is illumined by the Light of lights,. He knows that he *was*, long before the time when "all the sons of God sang together for joy".

The architect has accomplished his work what he learnt from his life. Brief through his life, he saw before he died, as he said, his 'machine in strong working order!'

He had inserted in the massive block of India 'a lever for the good of humanity which no power can drive back'. His learning from life which transformed into active energy and realised faith is beautifully expressed in his poem, *To the Awakened India* published in 1898.

What a striking lines were of the last verse of the poem:

(48)

*"Awake, arise, and dream no more !
This is the land of dreams,
where Karma
Weaves unthreaded
garlands with out thoughts,
Of flowers sweet or
noxious-and none
Has root or stem, being born
in naught, which
The softest breath of Truth
drives back to Primal
nothingness. No bold and face
The Truth! Be one with it! Let visions cease.
Or, if you cannot, dream but truer dreams,
Which are Eternal Love and Service Free."*

q

Swami Vivekananda's Impact on Americans

- Radhanath Behera

The audience was tired of listening to speakers who poured out in rich eloquence the grandeur of their faith, the uniqueness of their religion and the superiority of their culture.

Towards the end of the opening day's deliberation, a young man, barely 30, appeared on the stage, curiously dressed in yellow robes and with a large turban as his headgear. His very presence evoked a mixed feeling of doubt and disbelief because of his youth, the seriousness of the assembly and the solemnity of the occasion.

But these feelings were short-lived. The young man was a wandering monk from India and lacked the due formalities of a delegate to the august assembly. At the outset, he looked a bit nervous. Slowly, he gained his composure, held his breath and opened his speech with "Sisters and Brothers of America."

These words of immense cordiality moved them to a standing ovation with thundering applause which lasted a few minutes. Then followed his brief speech, extempore in nature and sincere in delivery; he thanked the organisers for contemplating this noble thought of holding a World Parliament of Religions on the sidelines of World's Columbian Exposition at Chicago from September 11 to 27, 1893.

His nervousness had disappeared and he was on his own. Words poured from his lips in torrential eloquence. He had earlier spurned the president's offer to speak at the allotted time on the plan that he was not then ready for the grand occasion. He rose up only when the president warned him to either speak or lose the opportunity.

The brief speech carried a message that was deep enough to shock and thrill the audience. As his speech ended, the listeners thronged the state to touch him or to be near him as a gesture of appreciation. They

The brief speech carried a message that was deep enough to shock and thrill the audience. As his speech ended, the listeners thronged the stage to touch him or to be near him as a gesture of appreciation.

made him an instant hero and feverishly followed him wherever he went.

For the succeeding days of the Parliament in session, the admirers waited for hours to hear him even a few minutes.

He was Swami Vivekananda, an unknown monk from India, who was there without due authorisation of any Hindu sect or creed to represent it as a delegate.

The reason for this wild following was that the listeners saw in him a living Christ or a venerable Buddha delivering a grand message.

When he arrived in America, he was dismayed that the Parliament was to be held three months later and that he had to survive these impending days with his limited and fast dwindling financial resources. He had then no friend or acquaintance to depend upon except his passion for preaching a lofty thought.

But destiny played its role and the Swami came in contact with Professor Henry Wright of Harvard University. He was astonished that a monk from a distant land could be so scholarly, rational and scientific in his outlook.

He spoke earnestly on the basic principles of all religions, their underlying philosophy and their need in a fast-moving materialistic world. He delved into the luminous Hindu philosophy of Vedanta. He highlighted the basic tenets of Vedantic thought in simple terms for the benefit of an alien audience. Vedanta, he explained, was not a mere philosophic speculation or a religious doctrine, but a great means for blending science and spirituality into a fine fabric of harmony.

When the professor learnt that Swamiji did not have the due authorisation to be a delegate, he instantly wrote to the organisers of

the Parliament of Religions stating that the Hindu monk was more learned than all the professors of his university put together, adding that asking him for credentials was similar to demanding the sun its right to shine.

Swamiji proved to be true to every word the professor observed about him. The Parliament became vibrant appealing and memorable due to the presence of this strange delegate from India who otherwise would not have found an entry into this inter-religious Parliament.

The Parliament went on successfully for seventeen days and concluded with a note of building an inter-religious faith and harmony by shunning religions exclusiveness. Soon after the Parliament ended, Swami Vivekananda became the most sought-after speaker and organisations vied with one another to have him speak from their own pulpit. A few days earlier, this unknown wanderer who almost begged for his survival in a foreign land, had become an icon and an instant celebrity.

He spoke earnestly on the basic principles of all religions, their underlying philosophy and their need in a fast-moving materialistic world. He delved deep into the luminous Hindu philosophy of Vedanta. He highlighted the basic tenets of Vedantic thought in simple terms for the benefit of an alien audience. Vedanta, he explained, was not a mere philopophic speculation or a religious doctrine, but a great means for blending science and spirituality into a fine fabric of harmony.

Soon his message spread in every direction. Americans who came in touch with this glowing message began to be swept by it and later on transformed by it in hundreds and even in thousands. Reports in newspapers were favourable though a few missionaries, jealous of his growing popularity, had spread malice and canards against him. But truth had its own way of dealing with such mud-slinging and his fame as a preacher of truth and purity went on unaffected.

On his part, Swamiji admired America for its open mindedness in welcoming a new concept into its ethos. He spoke wherever invited from the smallest circle to very large gatherings, in domestic chambers to the university lecture halls.

As a measure of appreciation, he was offered the Chair of Eastern Philosophy by the University of Harvard just after he spoke with

clarity and conviction to the students and staff of the university in the department of philosophy.

He declined the offer, stating that it was unbecoming of a world-renouncing monk to seek worldly pursuits. The authorities of Columbia University were equally dismayed when a similar offer to him was politely turned down.

Swamiji after his resounding success in America returned to India to a hero's welcome. He opened the gate through which flowed the stream of Indian culture, its philosophy and even all shades of religion to which this holy land gave birth, to mingle with the spirit of inquiry of the West. Through him the eastern religions and western culture found a meeting place, each recognising the greatness of the other, each duly profited and enriched in the process.

The great epoch was inaugurated by Swamiji himself and its far-flung impact continued even a century later.

(50)

Fill the brain with High Thoughts, Highest Ideals, place them day and night before you, And out of that will come Great work www.hindudevotionalblog.com Realize yourself. That is all there is to do. Know yourself as you are-infinite spirit. That is practical religion. Everything else is impractical, for everything else will vanish.

Swami Vivekananda made a second trip to America in 1899 at a time when his name and fame had so rapidly spread across the country that he was a most admired guest in every club, in the house-hold of the high and mighty, in the city lecture halls and similar venues. Through the support of his countless admirers, Swamiji went ahead with his mission and established a Vedanta Centre each at San Francisco, New York, Alameda and Oakland with a view to perpetuating the ideals of his great Master, Sri Ramakrishna Paramahansa and which Swamiji preached abundantly in the course of his itinerary.

These centres bore the stamp of inspiration the Americans reached from his numerous lectures, writings and even private conversations.

Vedanta, as a system of thought transcending the barriers of country and religion, gained acceptific-minded Americans. But, though

Swamiji claimed that he often quoted the Upanishads (the synonym of Vedanta), he shed light on them from a different perspective, even different from the mighty Vedantist Sankaracharya himself.

According to Sankaracharya Brahman, the ultimate reality of all that exists, is shorn of all qualities and qualification. This is the traditional Advaita Vedanta. But Swamiji differed from him on the score that though Brahman is the ultimate reality, his own vision makes it a synthesis of both distinct forms of Vedanta the Dwaita and Advaita, that Brahman is both with qualification and without it, has forms and is without form.

The Vedanta newly expounded by Swamiji is termed as New-vedanta or sometimes as unqualified monism, which is the cornerstone of practical Vedanta.

The Upanishads, however, were conceived by seers from time to time while remaining immersed in the thought of the ultimate reality. They were born out of deep contemplation in the dense forests, in the darkness of caves, in the ambience of utter silence, in the tranquility of the surrounding conducive to austere spiritual practice.

Outlined by his master Sri Ramakrishna, the new interpretation of Vedanta was culled, as it were, from the pages of the Vedas. Neo-Vadanta emerged with new vigour, fit to be adopted by the cultured and the ignorant as the goal of life. The world is not merely illusory as Sankara had taught, but "in a sense the world also is real." The world is not to be denounced or annihilated, but to be lived in since it is created, and sustained by the Lord Himself. "In life and in death, in happiness and in misery, the Lord is equally present. The whole world is full of the Lord. Open eyes, and see Him. This is what Vedanta teaches," explained Swamiji.

His two visits to that country gave him two different aspects of the American way of life. The first was a struggle for identity, for a little space under the sky and a brief attention of those who cared to listen to him. He came here not to disturb their religious feeling but to strengthen by anointing it with the balm of an ancient yet enduring culture. He was pleased with their unstinted support to a humanitarian cause which he espoused in providing bare necessities of life-food, education and shelter.

Some followed him, some others opened their hearts to lessen their own tension, still others extended their helping hands for bringing succour to his fellow countrymen groaning under abject poverty and illiteracy.

To Swamiji America was not only a land of intellectual liberty and material prosperity, but of openness of mind, ready to perceive and accept anything which their culture, even religion could not provide.

To Swamiji America was not only a land of intellectual liberty and material prosperity, but of openness of mind, ready to perceive and accept anything which their culture, even religion could not provide.

To him it was a land of freedom on social and political counts, a cradle of democracy, adjoining a system of justice, equality before law, freedom of expression even of unorthodox and inconvenient thought, their power of organisation and all such redeeming features of leading a good and harmonious life and above all in the pursuit of happiness.

(51)

Swamiji found in this country the spark of future world leadership. He literally ploughed the soil, removed the hardened upper crust of isolationism, made it soft and fertile and planted the seed of the luminous Vedantic thought-man is potentially divine and not a creature born of sin, a child of immortal bliss, a co-sharer of oneness of humanity at large and so on.

Swami Vivekananda during his second trip to America engaged himself in the arduous task of lecturing, teaching, writing, counselling throughout the length and breadth of the country.

Everywhere he was received with overwhelming fervour. The seed of Vedantic thought began to fructify into a tender sapling. Vedantic centres were sprouting, Adherents to this grand philosophy, who were skeptical at the beginning were now its ardent admirers and even propagators.

Limitations of physical science were now realised and the promise of eternal bliss in afterlife seemed distasteful. These hopes were slowly banished as a mere delusion. The goal of life was not self-en-

joyment but away from all sensual pleasures which were not only fleeting in time, but a snare aid to deflect a true seeker after the real and the eternal.

Swamiji trained them not in their agnostic fashion but in their acquisitive scientific mode. It was both a rational and convincing proposition and hence appealed to the American psyche. He exhorted them to stay in and meditate upon the Supreme from their own religious standpoint, never bothering about their conversion or converting others to their own trained thought. Be good and do good-that was the quintessence of his message to the West.

But he warned them not to lose themselves in the outward glitter of material prosperity and scientific achievement. He did not hesitate to point out that Americans' worship of their women was a sensual premise, based on their beauty and youth. The true fulfilment of a woman was not confined to her charm or attractiveness, but lay in her exalted motherhood-the evertolerant, self-effacing and all sacrificing motherhood.

He even sent a strong message against cherishing the enjoyment of eternal pleasure here on earth by shunning any trace of pain. Swamiji pointed out that pleasure and pain, happiness and misery, life and death were the two aspects of the same reality; if you wanted to avoid one, you would have to avoid the other; death could be stopped only by stopping life alone-no other alternative left in the process.

Swamiji pointed out that pleasure and pain, happiness and misery, life and death were the two aspects of the same reality.

The message couched in such strong words fell like a thunderbolt on the untrained ears of Americans, especially the later generation youth. As the famous biographer, Marie Louise Burke succinctly records: "*Coincidentally, since around Swamiji's centenary the whole nation has been undergoing a revolutionary change. Thousands upon thousands of young people have turned away in disgust from the fatuous materialism of their parents. They have broken their ties with the mainstream of American society and taken off like would-be sannyasins. Many thousands of them have turned to the religions of India; they have taken to*

the religions of India; they have taken to meditation and yoga and to chanting the name of God.

"This is not a temporary faddish movement. These young people are demanding a religion of experience, not of dogma. They are demanding something deeply real to satisfy a deeply real yearning. If Christain churches cannot give it-well, them India can."

Presenting himself this way his bold message, Swamiji was bearing the mantle of a modern prophet, a world teacher-at once beacon to and a refuge for the tired souls.

At the same time, he was aware of his days being numbered as his strongly-built athletic body was unable to carry this stupendous burden further. To a questioner he revealed that he was now free to pass out.

"Why go, Swamy?," she asked anxiously. Because, Swamiji confirmed that he was making room for others to survived under the shadow of a big tree! He had squandered deliberately all his energy in such a short span of less than forty years in guiding human beings to realise their inner divinity. He roused human sentiment everywhere, from a state of deep spiritual slumber and asked them to shun bigotry and selfishness, to be strong and fearless, ever ready to lay down life for an exalted faith.

He himself fulfilled these premises and his own Master's prophecy-Naren (Swamiji's pre-monistic name) will be a world teacher, a huge banyan tree offering shelter to the tired travellers!

□

(52)

Character ?

Each work we do, each thought we think, produces an impression, called in Sanskrit Samskara, upon the mind and the sum total of these impressions becomes the tremendous force, which is called character.

Practical Vedanta and Swami Vivekananda

- Radhanath Behera

The disciple was nursing the gravely ailing master, who could hardly utter a word due to the advanced stage of throat cancer. A sinister doubt crept into the former's mind, "Could his master be a God-incarnate?" He would believe once for all if the ailing master confessed about his own identity and the purpose of his birth.

But the master, a liberated soul, read into his doubt and asserted that he himself was both Rama and Krishna, now incarnated as Ramakrishna. He further added that this was not to be taken merely in the Vedantic sense.

What is the Vedanta, referred to by Sri Ramakrishna ? For an apt answer, one has to go back to the Vedas, the most ancient and venerated scripture carrying the most sublime ideas.

Vedanta teacher that apart from the body and mind duality, there is a mysterious third dimension belonging to the spirit, which, if probed rightly, would unite the physical being with the true Self or the Atman.

Swamiji said, "The Vedanta is a great source of inspiration. It points out that the human spirit is in reality identical with the Supreme Being."

Swamiji was universally recognised as a leading Vedantin, a modern Apostle of Vedanta. He had imbibed the cardinal principles of the Vedanta-abhaya-fearlessness, shraddha faith and tyaga-renunciation. He praised the immortal message of Vedanta-to be strong and fearless in any situation, because man is not merely a physical entity, blown hither and thither by the inexorable Fate, but he is a child of immortal bliss.

Swamiji saw in every being a spark of divinity, a great potentiality for realising the Supreme Reality. To succeed in this spiritual endeavour, he urged mankind, to choose any means work, worship, psychic control or philosophy and become free from any bondage.

Vedanta or the Upanishadas are found at the concluding section of the Vedas and contain the cream thereof. Vedas are generally split into two parts-the work-portion or the Karma Kanda and the knowledge-portion or the Janna Kanda.

While the Karma Kanda is confined to ritual or ceremonies, the Janna Kanda (or the Upanishads) deals with spiritual matters. Vedanta is believed to be the foundation of every system of Hindu philosophy like Sankhya, Nyaya, Vaisesika, etc. But even the Buddhists and Jains follow it to suit their purpose. The way, Vedantic principles transcend the barriers of dogmatic religions.

(53)

Swamiji saw in every being a spark of divinity, a great potentiality for realising the Supreme Reality. To succeed in this spiritual endeavour, he urged mankind, to choose any means-work, worship, psychic control or philosophy and become free from any bondage.

Again, Vedanta has accounted for three systems or sects-Dvaita or the dualistic, the Vishishta Dvaita or the qualified non-dualistic and the third Advaita, or non-dualistic. While the first two have a large following in India, the third is narrowly followed. Yet the three systems have a common psychology or the Sankhya philosophy-They all believe in God, in the Vedas as revealed, and in cycles. Cycles, in turn deal with the concept of birth or creation of all gross form-from tiny plants to the gigantic stars, through a process called evolution.

After prolonged periods , this evolution or cycle stops and involution begins. Every created thing goes back to the original primal matter, namely the Akasha.

Again there is primal force, called Prana. Prana acts on Akasha and creates or projects the Universe.

The old cycle gives birth to a new one and the process continues eternally.

However, there is something existing beyond Akasha and Prana and it is known as Mahat or the Cosmic Mind which transforms into the former two. This is the essence of Sankhya philosophy, convincingly narrated by Swami Vivekananda.

Swamiji often in the West was questioned whether he was talking of Advaita at the cost of the other two systems. He said that man might start with any system, at the end he would be an Advaitist, which was never congenial to sense-enjoyment. In this sense, Vedanta is pessimistic as it negates the world of senses.

It is optimistic to assert the reality of the world. Through the power of Maya, the Absolute has apparently become relative and the unconditioned, conditioned. Swamiji explained this abstract concept figuratively by stating, "The soul is a circle whose circumference is in some body. Death is but a change of centre, God is a circle whose circumference is nowhere, and whose centre is everywhere. When one gets out of the limited centre of the body, he should realise God, our true Self."

The grand message the Upanishads preach about the glory of human soul, the elevating life spiritual, which the Gita expounds as that which the swords cannot pierce, nor fire burn, nor water dissolve or air dry up. Vedanta makes us strong for in strength alone lies all manliness.

Vedanta teaches that a knower of the real Self is not affected by anything transitory and that man alone can do well to the world. He has the real motive of doing good to others without any hope for return.

It is the universal perception and not the universal perception and not the universal egoism that Vedanta gives as message. Help another; this way you are helping yourself only for Thou art That. A true Vedantist will always be eager to help someone in distress. He eats through other's mouth and lives through other's life. He sees not a debased animal or low-born man, but the same divinity

behind the facade. He is truly a happy man enjoying a life dedicated to other's well-being. He derives inspiration from the Vedantic saying that he is not a body or a mind, but the very Spirit.

The man who thinks and lives that he is a Spirit is a better human being, free from all shackles that life binds every creature in the transient existence and Vedanta becomes his eternal companion leading support and guiding towards his goal.

Doubt often arises in human mind if such grand ideas taught in the Upanishads can be practised by all human beings or all these merely are clever display of human imagination. In a word, Vedanta can be made practical for all human beings irrespective of their calling.

Swamiji himself was baffled when his master expounded to him the basic principles of Advaita Vedanta—the pervasiveness of the one Spirit in the whole universe. How could an animate being and an inanimate object have a common living spirit, could a human being and a chair be the same Brahman, argued the revolting disciple Narendra with his master. Gradually, when maturity developed in him and the seed of knowledge planted by the Master began to fructify in his probing heart, did Naren (later known as Swami Vivekananda or Swamiji) realise the veracity of his master's exposition.

Yes, Vedantic thoughts can be realised and made practical in life, asserted Swamiji to all his disciples—Eastern and Western as well. He envisioned the clear message of the Vedanta and went to the root of its evolution, its growth and meaning. He said, "On the top of the mountains of this blessed land, in the depth of its caves, on the banks of its rushing torrents...where rishis lived, there philosophy (Vedanta) was born."

Swamiji carried with him the sublime teachings of Vedanta for the benefit of man living in any corner of the globe. These teachings are timeless without any beginning or end, because they are not printed in pages of any book. He explained, "But by the Vedas no books are meant. They mean the accumulating treasury by different persons in different times."

(54)

He brought the message of the Vedas from the forests to our streets, to the gate of every house, to the bench and the bar alike. Bold truths were now couched in the simplest language so that the common man, the illiterate, the ignorant, the unbeliever alike could assimilate and make these part and parcel of his life and realise that Vedanta was his very own possession. To love others is to love himself, to hate is to hate himself for I am He; Thou art that - this is the new gospel Swamiji preached. Man has in himself a spark of divinity, the oneness of human nature in its struggle to reach the same goal through varied paths, straight or cooked.

Swamiji Vivekananda said that he always quoted the Upanishads, the great mine of strength. In that strength lay the vigour to sustain the Universe energetically.

To quote Swamiji, "The whole world can be vivified, made strong, energised through them. They will call with triumphant voice upon the weak, the miserable, and the downtrodden of all races, all creeds and all sects to stand on their feet and be free."

Freedom, physical freedom, mental freedom and spiritual freedom are the watchwords of the Upanishads.

Swamiji wanted us to be strong, free from any weakness. We already have our weakness and no further addition would cleanse our mundane life. Sin cannot be washed by sin, misery by further misery. To lead a life of dignity, human beings must assimilate the Vedantic Ideas and live them by incorporating them into their blood stream.

He brought the message of the Vedas from the forests to our streets, to the gate of every house, to the bench and the bar alike.

The new interpretation of Vedanta by Swamiji is : it is a new religion in the sense that it makes a man a perfect being, enjoying the spirit of Vedanta and knowing its infinite possibilities and Omnipresence. Finally, words of lasting assurance-that he would continue to inspire men long after he is gone till he becomes one with

God.

Let's pay respectful homage to the Great Spirit, the world-teacher of Swami Vivekananda on the sacred occasion of celebrating 150th year of his birth.

१

सम्पर्क F सहयोग F संस्कार F सेवा F समर्पण

पढ़ें और पढ़ायें तथा भेंट करें

GYAN PRABHA

(QUARTERLY)

त्रैमासिक ज्ञान प्रभा के
आजीवन सदस्य बनें।

सहयोग राशि वार्षिक
120/-
आजीवन **2000/-**

ज्ञान प्रभा

त्रैमासिक

28

Swami Vivekananda's Messages Have Greater Relevance Today

- H.V. Seshadri

When we try to comprehend the legacy of Swami Vivekananda against the background of our present day national scenario, we are sure to exclaim, "Oh, never was Swamiji's message more relevant than it is today!" Indeed, there can be no two opinions about it the urgent need for us to heed the thundering warnings of the leonine *sannyasi*.

As days are passing, the profound significance of the insights of Swami Vivekananda in shedding light on our present-day problems is becoming every more pronounced, especially, when we observe how by our rejection of the same the nations's ship is dangerously floundering. And how if only we had stuck to Swamiji's guidelines, we as a nation could well have reached to our full heights as a world teacher of cultural and spiritual values, instead of going about knocking at everybody's door with a begging bowl in every single sphere of life.

Now, let us begin from the beginning: that is, ourselves. Unless we know who we are, what our identity as a nation is, there can hardly be any hope for our nation's progress. A nation can march forward only when its direction, its goal of life reflecting its identity, is well etched on its mind. Otherwise, it will be only drifting and drifting, being tossed about by every single pull and push by interested forces inside and outside the country.

The enslavers' snare

When Swami Vivekananda came on our national scene, the one deadly crisis gripping our nation's psyche was precisely this the crisis of self-identity, of the purpose of our national life. The British had fashioned their strategy so as to see that the children of Bharat would themselves become so soulless and drained of their

national consciousness that they themselves would keep her bound hand and feet and place her at their feet. For, the British had only too well realised that this giant of a nation could never be held in chains by a tiny country like theirs on the strength of arms-a nation which had vanquished many an invading marauder before and had only recently humbled the 700 year long bloody Islamic aggression. Subjugation was possible only when it could be made mentally a slave to them, which in turn, meant demolishing from the people's heart the spirit of pride in their past glorious achievements, their devotion to their sublime values of life, and dedication to their life-mission.

(56)

Towards this end, the British launched a systematic multipronged attack; through the Christian missionaries on our dharma as being full of superstitions, barbaric customs and devoid of any worthwhile, moral or spiritual content; (One such book by Miss Mayo, an American missionary, was described by Gandhiji as "a gutter inspector's report)", attack on our ancient and great educational system (which Gandhiji had described as a beautiful tree) through the infamous Macaulay system designed 'to create a class of brown skinned Englishmen' who would dutifully carry out the administration of the country at the behest of the British masters; attack on our time-honoured self-governing *panchayat* system-which had remained undisturbed even during the Islamic trauma, with a few imperialist hands; attack on our traditional arts and crafts and thereby destroying our self-depending economy and reducing our people to a mercenary army slaving for Britain's industry and commerce; and finally attack on the very concept of our national entity, through a well orchestrated propaganda that Bharat was never a nation, and that it belonged to the successive conquerors who happened to invade this land, and as such it was even historically wrong to say that the British had enslaved Bharat-there being no Bharat at all as an entity; and that now under their benign rule, Bharat was to become a new nation. A great national leader of that time even wrote a book *A Nation in the Making*.

In and through all these efforts, the British had pitched upon the Hindu as their prime target. They had correctly diagnosed that it was the Hindu who formed the national society of Bharat and it

was he if roused to his real national identity, would spell the doom of their hold on Bharat.

Demolishing the myths

Amongst all the pioneers of the movement for our recent national renaissance, it was Swami Vivekananda who dealt the most powerful blow against this soul-killing strategy of the imperialist masters. It was he who charged the Hindu heart-sullen, diffident and crest-fallen as it had become with the righteous pride of being a great nation-great and unique in every sphere of human to some of his flaming words:

"We are Hindus. I do not use the word in any bad sense at all...upon us depends whether the name Hindu will stand for everything that is glorious, everything that is spiritual or whether it will remain a name of approbrium, one denigrating, the downtrodden, the worthless, the heathen...By our actions let us be ready to show that this is the highest word that any language can invent. It has been one of the principles of my life not to be ashamed of my own ancestors. I am one of the proudest men ever born, but let me tell you frankly, it is not for myself, but on account of my ancestors... The more I have studied the past...more and more has this pride come to me and it has given me the strength and courage of conviction, it has raised me up from the dust and set me working out that great plan laid out by those great ancestors of ours."

Swami Vivekananda also started demolishing the myth that there was no nation-much less the Hindu Nation-at all in Bharat. He touched the very core of the nation-concept by saying that a nation is formed by a people whose hearts beat to the same spiritual tune. He also added that a sharing of common historical, geographical, linguistic associations and community of feelings and aspirations further strengthens the nation's spiritual identity. In the ultimate analysis, a nation's unity is psychological, he said.

In fact, it is this spiritual content that forms our nation's psychological identity. It was given to Swami Vivekananda to articulate this in the clearest possible terms: "Just as there is an individuality in every man, so there is a national individuality...Each

nation has a destiny to fulfil...a message to deliver...a mission to accomplish. Therefore, from the very start, we have to understand the spiritual mission of our race...the place it has to occupy in the march of nations, the note which it has to contribute to the harmony of races." Swamiji calls it 'the soul of the nation and affirms, "Because no one was able to destroy that, therefore the Hindu Nation is still living, having survived so many troubles and tribulations". **Even while admitting that political and social improvements are necessary, he however again and again sternly warns not to ignore the basic 'national life current', the 'national mind', the national purpose centering round spirituality.**

Warning to the Hindus

On the other side, no other voice was so strident as Swamiji's in admonishing his countrymen over the blind aping of the West. "O, India this is your terrible danger. The spell of imitating the West is getting such a strong hold upon you that what is good or bad is no longer decided by reason, judgement, discrimination or reference to the *shastras*. Whatever manners the Whitemen prescribe or like is good; whatever Alas! What can be a mere tangible proof of foolishness than this?" "O Bharat" he roars, "With this mere echoing of others, with this base imitation of others, with this dependence on others...wouldst thou by means of thy disgraceful cowardice, scale the highest pinnacles of civilization and greatness?"

Rousing the nation's soul

Dr. R.C. Majumdar, the doyen of modern Indian historians, says that it was Swami Vivekananda who gave the spiritual basis to Indian nationalism: "The lesson of the Vedanta and Bhagvad Gita permeated the lives and activities of many nationalists: and many a martyr, inspired by his teachings, endured extreme sufferings and sacrifices with a cheerful heart, fearlessly embraced death..."

Not only Swami Vivekananda, but the entire galaxy of the standard bearers of our national renaissance of the 19th and 20th century have freely used the term Hindu for designating our nation, and its ethos. Further, they have delineated the distinguishing spiritual traits of the Hindu Nation also. While Bipin Chandra Pal

dreamed of independent Bharat as inspired by the teachings of the Upanishads, Maharshi Aurobindo declared that the Hindu Rashtra shall rise with Sanatana Dharma. It was to broadcast the life giving message of Sanatana Dharma that Bharat was going to become free, he affirmed. In Lokmanya Tilak's vision the ideal was *dharmarajya*. Annie Besant saw Hinduism as the very soul and spirit of Bharat, without which Bharat would no longer remain Bharat.

Ramsay Mcdonald, who was at one time Prime Minister of England, offering rich tributes to the national genius of Hindu says that they had settled the question of nationalism in the spiritual way by looking upon Bharat as the Goddess Mother of their spiritual culture. "India and Hinduism are organically related as body and soul...In his (Hindu) consciousness it (India) was his greater self", he said.

Our present condition: price of ignoring the message

In the backdrop of this clear and radiant picture drawn by Swami Vivekananda and the later torch bearers of nation's destiny, it is now easy to find out why and how the ship of independent Bharat has floundered in every single sphere of national endeavour. Our national helmsmen, even while paying lip sympathy to Swami Vivekananda and all other nation builders, have thrown overboard their life message and fallen into the snare of westernism against which they had most vehemently warned.

The most crucial sphere was of course education-the sphere where the new and young Bharat was to be shaped. Vivekananda never tried to emphaizing that it should be a 'man-making' one, such as to bring jout 'the perfection already in man", *Brahmacharya*, building of 'muscles of iron and nerves of steel and hearts made out of the material of the thunderbolt', radiant personal example of the teacher-all this formed its very life breath. However, what is the picture obtained today? The dominating note has become job-seeking, career-crazy, plesure hunting, western-aping and a crassly materialistic outlook. The nation's youth, having lost the glorious light of our national mission, have thus become soulless, often indulging in reckless, chaotic actions.

At the root of the present day all round characterlessness, corruption, devilish dance of money and power, vulgarisation of democratic norms and all this flowing from the top men in society, too, lie this spiritual vacuum in the nation's heart. National planning over the last four decades, centering round economics, to the exclusion of every single other spiritual aspect, against which Vivekananda had specifically warned-is just a reflection of an outlook rejecting the national self. Pandit Nehru symbolised this drifting by his famous statement that hereafter "for modern India, the new places of pilgrimages shall be a Bhakra Dam and a Sindhri Fertilizer Factory".

Politics in places of spirituality : its fruits

Swami Vivekananda on the other hand says, "Temples like Somnath of Gujarat, will teach you volumes of wisdom, will give you a keener insight into the history of the race than any amount of books. Mark how these temples bear the marks of a hundred attacks and a hundred regenerations, continually destroyed and continually springing up out of the ruins, rejuvenated and strong as ever. That is the national mind, that is the national life current. Follow it and it leads to glory. Give it up and you die."

If only we had remembered this statement, the Sri Ramjanabhoomi at Ayodhya, the Sri Krishna Janmasthan at Mathura, the abode of Lord Vishweshwara at Kashi and a host of others would have by now emerged as life springs of national inspiration for the children of independent Bharat.

It is verily this de-spiritualised aspect of statecraft that has, in Vivekananda's incisive view, corrupted the democratic processes. He writes "...the means (the ballot) is the same after all; that is, whatever only a handful of powerful men dictate, becomes the fait accompli; the rest of the men only follow like a flock of sheep, that's all. I have seen your Parliament, your Senate, your vote, majority, ballot; it is the same thing everywhere, my friend. The powerful men in every country are moving society whatever way they like, and the rest are only like a flock of sheep." He goes on to say that by the system of vote and ballot the politicians "rob others and

fatten themselves by sucking the very life blood of the masses."

However, in spite of all this warning, the destiny-makers of independent Bharat fell into the same western track and refused to look into our past where both the muscle of the state and of money-*artha and kama* - were held in subordination to the moral and spiritual forces in society.

State-power, with all its attendant economic and other luxuries, having become the dominating urge for politicians today, is it any surprise that our nation's unity should have become a plaything in their hands? High sounding words like "national integration", "secularism", "socialism", "democracy" have all become handy tools for them, even while forces of secession, subversion and foreign infiltration are gaining momentum under their very nose and sometimes even under their patronage.

May we prove true to Him

Looking at the lurid contrast between the inspiring and illuminating passages, the warnings and admonitions of Swami Vivekananda on the one side, and the present day policies, practices and actions rampant in every sphere of our national life on the other, should we not at least now cry a halt to the latter? Is it not high time that all sincere adherents of Swami Vivekananda's soul-stirring vision and mission, resolve to accept the challenge and come forward to stake their all in reversing the present suicidal drift?

In fact, such recharging of our nation's mind with the true spirit of national renaissance that Swami Vivekananda had awakened has now started afresh. The nation is bestreuring itself and has begun to trumpet its rejection of the soulless shibboleths ruling the roost today. It is arising and awaking and is manifesting unmistakable signs of stopping not till the goal-the vision bequeathed by Swami Vivekananda-is made into a living reality.

Could there be anything more self-elevating and fulfilling as much in life as in death, than offering every bit of our energy in carrying out this supreme mission-a mission which is the only way for the redemption of not only our nation but of the entire humanity? For, has not Swami Vivekananda issued this clarion call, "We

Hindus have now been placed, under God's providence, in a very critical and responsible position...The nations of the West are coming to us for spiritual help. A great moral obligation rests on the sons of India to fully equip themselves for the work of enlightening the world on the problems of human existence-I am an imaginative man, and my idea is the conquest of the whole world by the Hindu race."

q

Influence of Swami Vivekanand's Works

Vivekananda's Works stress the need to educate modern man to combine productive efficiency in his outer life with spiritual efficiency in his inner life. It is education that lifts man from one-sidedness to all-sidedness in character, often stressed by Sri Ramakrishna; it is the combination of learning to be with learning to do, as urged by the UNESCO Education Commission Report which itself has dealt with learning to be only superficially.

Here is Vivekananda bringing to the modern West this Vedantic message of a profound and deep humanism based upon the divine spark in every human being, and presenting man's education and his life and work as the field to unfold that divine possibility. That is Vivekananda's message of human excellence for all children everywhere. It will take time for humanity to be influenced by these ideas; but they are bound to produce their effect, like delayed action bombs, for they are rational and human. It was said of Athens that Athens was the school of all Hellas, all Greek peoples. Today, thinkers like Romain Rolland have begun to recognize Vivekananda as the education for the whole world. 20th century may be considered, so far as this message is concerned, as the seed-time, while the next century can be expected to be the harvest time.

Swami Rangnathanand

(59)

The Master As I Saw Him

- Sister Nivedita

In assessing the impact of Swami Vivekananda, especially on our national life, the contribution of his most devoted disciple, Sister Nivedita, stands out prominently. Nivedita was the golden chalis into which Swami Vivekananda poured his love and adoration for his Motherland and her glorious culture. She, in her turn, through her writings, speeches and her very life made this love explicit, for all of us to share and be enriched by it.

The time was a cold, Sunday afternoon in November and the place, it is true, a West End drawing room. But he was seated, facing a half-circle of listeners, with the fire on the hearth behind him, and as he answered question after question, breaking now and then into the chanting of some Sanskrit text in illustration of his reply, the scene must have appeared to him, while twillight passed into darkness, only as a curious variant upon the Indian garden, or on the group of hearers gathered at sundown round the Sadhu who sits beside the well, or under the tree outside the village-bounds...

Only this first time we were but fifteen or sixteen guests, intimate friends, many of us, and he sat amongst us in his crimson robe and girdle, as one bringing us news from a far land with a curious habit of saying now and again, "Shiva ! Shiva !" and wearing that look of mingled gentleness and loftiness that one sees on the faces of those who live much in meditation..

And he told us-a thing that struck me very much, leading me during the following winter to quite new lines of observation-that both the mind and the body were regarded by Hindus as moved and dominated by a third, called the Self.

I remember that he objected to the word, 'faith', insisting on 'realisation' instead; and speaking of sects, he quoted an Indian proverb; "It is well to be born in a church, but it is terrible to die there."

I imagine that he spoke of *karma, bhakti, jnana* as the three paths of the soul. I know he dwelt for a while on the infinite power of man. And he declared the one message of all religions to be in the call to renunciation.

He prophesied that certain religious developments then much in vogue in the West, would speedily die owing to love of money, and he declared that "man proceeds from truth to truth and not from error to truth."

This was indeed the master-thought which he continually approached from different points of view, the equal truth of all religions any of the Divine Incarnations, since all were equally forthshinings of the One.

The feeling that great music wakes in us, grows and deepens with its repetition. And similiary, as I read over the notes of those two lectures now, they seem to me much more wonderful than they did then...

(60)

The time came before the Swami left England, when I addressed him as 'Master'. I had recognised the heroic fibre of the man and desired to make myself the servant of his love for his own people. But it was his character to which I had thus done obeisance...I studied his teaching sufficiently to become convinced of its coherence, but never, till I had experiences that authenticated them, did I inwardly cast in my lot with the final justification of the things he came to say. Nor did I at that time, though deeply attracted by his personality, dream of the immense distance which I was afterwards to see, as between his development and that of any other thinks or man of genius whom I could name...

It was easy to see that he was no mere lecture like some other propounders of advanced ideas whom I had heard even from the pulpit. It was by no means his intention to set forth dainty dishes of poetry and intellectuality for the enjoyment of the rich and idle classes...

These, then, were the things I remembered and pondered over, concerning the Swami, when he had left England that winter for

America-first, the breadth of his religious culture, second, the great intellectual newsness and the interest of the thought he had brought to us; and thirdly, the fact that his call was sounded in the name of that which was strongest and finest, and was not in any way depended on the meaner elements in man.

...This was the characteristic of my Master. Where others would talk of ways and means, he knew how to light a fire.

On the 20th of June, 1899, I left Calcutta by the same steamer as the Swami and his *gurubhai* Turyananda for London which we reached on the morning of July 31st. To this voyage of six weeks, I look back as the greatest occasion in my life. I missed no opportunity of the Swami's society that presented itself, and accepted practically no other, filling up the time with quiet writing and needle-work; thus I received one long continuous impression of his mind and personality, for which I can never be sufficiently thankful.

From the beginning of the voyage to the end, the flow of thought and story went on...

"Yes, the older I grow, the more everything seems to me to lie in manliness. This is my new gospel.

"Will is not strengthened by change. It is weakened and enslaved by it. But we must be always absorbing. Will grows stronger by absorption. And consciously or unconsciously, will is the one thing in the world that we admire.

"It is selfishness that we must seek to eliminate. I find that whenever I have made a mistake in my life, it has always been because, self entered into the calculation.

"You are quite wrong, when you think, fighting is a sign of growth. It is not so at all. Absorption is the sign. Hinduisim is a very genius of absorption. We have never cared for fighting for its own sake. Every one had to learn that. So, let these races of new comers whirl on! They will all be taken into Hinduism in the end!

"More and more the true greatness seems to me that of the worm, doing its duty silently and steadily, from moment to moment and hour to hour."

d d d

Every now and then he would return, with consuming eagerness, to the great purpose of his life. And when he did this, I listened with an anxious mind, striving to treasure up each word that he let fall, for, I knew that here I was but the transmitter, but the bridge between him and that countless host of his own people, who would yet arise, and seek to make good his dreams.

It was amongst the lawns and trees of the Ganges side that I came to know, in a personal sense, the leader to whose work my life was already given.

To our cottage here, there came the Swami daily, at sunrise, alone or accompanied by some of his brothers. And here under the trees, long after our early breakfast was ended, we might still be found seated, listening to that inexhaustible flow of interpretation, broken but rarely by question and answer, in which he would reveal to us some of the deepest secrets of the Indian world. I am struck afresh whenever I turn back upon this memory, by the wonder as to how such a harvest of thought and experience could possibly have been garnered, or how, when once ungathered, could have come such energy of impulse for its giving forth.

d d d

It would seem sometimes as if the Swami lived and moved and had his very being in the sense of his country's past. His historic consciousness was extraordinarily developed.

It was as we passed into Punjab that we caught our deepest glimpse of the Master's love of his own land. It would seem that he had been deeply bound to the people there by many ties of love and reverence, had received much and given much, for, there were some amongst them who urged that they found in him a rare mixture of 'Guru Nanak and Guru Govind', their first teacher and their last...

d d d

Mine is the broken and faltering witness or one who is fain to tell-not of geography nor of politics, nor yet of the ways and cus-

toms of interesting peoples and unknown races, but rather of the glimpses vouchsafed to her of a great religious life of the ancient order, living itself out, amidst the full and torturing consciousness of all the anomalies and perplexities of the modern transition.

His was the modern mind in its completeness. In his consciousness, the ancient light of the mood in which man comes face to face with God might shine, but it shone on all those questions and all those puzzles which are present to the thinkers and workers of the modern world...

What hope is there for humanity? I find in my Master's life an answer to this question. I see in him, the heir to the spiritual discoveries and religious struggles of innumerable teachers and saints in the past of India and the world and at the same time the world and at the same time the pioneer and a prophet of a new and future order of development...I believe that each trace of those higher and uncommon modes of thought and consciousness to which he held the key has its significance for the modern age.

The Swami was constantly preoccupied with the thought of Hinduism as a whole. The thing he knew by experience was the truth of the doctrine, of *advaita*. The symbols under which he would seek to convey this were the monastic ideal and the worship of the terrible. But these were truths for heroes. By their means, one might gather an army. The bulk of mankind would always think of God as a Divine Providence, a tender Preserver and the question of questions was how to deepen the popular knowledge, of the connection between this type of belief and the highest philosophy.

"Now, we must help the Indian experiment as it is. Movements which do not attempt to help things as they are, from that point of view, no good...So, we must not seek to rob a nation of its character, even if it could be proved that that character was all faults."

He was qually clear again about the value of the image. "You may always say that the image is God. The error you have to avoid, is to think God the image".

"One set of persons, you see gives priority to the external manifestation, the other to the internal idea. Which is prior, the bird to the egg or the egg to the bird? Does the oil hold the cup or

the cup the oil? That is a problem of which there is no solution. Give it up! Escape from *maya!*"

d d d

He moved fearless and unhesitant through the luxury of the West. As determinedly as I had seen him in India, dressed in the two garments of simple folk, sitting on the floor and eating with his fingers, so equally without doubt or shrinking, was his acceptance of the complexity of the means of living in America or France. Monk and kind, he said, are the obverse and reverse of a single medal. From the use of the best of the renunciation of all, was but one step.

...In the great life that I have seen, I cannot but think that a double purpose is served-one of world moving and another of nation-making...Vivekananda was the first authoritative exponent, to western nations, of the ideas of the Vedas and the Upanishads. He had no dogma of his own to set forth...He preached *mukti* instead of heaven; enlightenment instead of salvation; the realisation of the immanent unity, Brahman, instead of God; the truth of all faiths, instead of the binding force of any one.

His doctrine was no academic system of metaphysics, of purely historic and linguistic interest but the heart's faith of a living people, who have struggled continuously for its realisation, in life and in death, for twenty-five centuries.

Truth being one goal of the Hindu creeds, and this being conceived of, not as revealed truth to be accepted, but as accessible truth to be experienced, it followed that there could never be any antagonism, real or imagined between scientific and religious conviction, in Hinduism. In this fact, the Swami saw the immense capacity of the Indian peoples for that organised conception of science peculiar to the modern era. No advance of knowledge had ever been resisted by the religions intellect of India. Nor the Hindu clergy ever been known to protest against the right of the individual to perfect freedom of thought and belief. This last fact, indeed, giving birth to the doctrine of the *Ishta-Devata* - the idea that the path of the soul is to be the one universal differentia of Hinduism, making it not only tolearnt, but absorbent of every possible form of faith and culture.

(62)

On reaching Madras, in 1897, Vivekananda boldly claimed that even the utmost realisations of Dualism and modified Unism, were but stages on the way to Unism itself; and the final bliss, for all alike, was the emergence in one without a second.

...India, to Vivekananda's thinking, was a unity, and a unity still more deeply to be apprehended of the heart than of the mind...his personal struggles, his personal desires, were bound up in an inextinguishable passion for his country's good. He never proclaimed nationality, but he was himself the living embodiment of that idea which the word conveys. He, our Master, incarnate for us in his own person, that great mutual love which is the Indian national ideal.

He indeed had the generosity to extend to the West the same gospel that the Indian sages had preached in the past to the Indian people—the doctrine in the Divinity in man, to be realised by faithful service through whatever forms.

d d d

He saw, of course, that the energy and co-operation of the whole nation was necessary, if material prosperity was ever to be brought back to India... A God, be said with his accustomed vigour, who could not in this life give a crust of bread, was not to be trusted in the next for the kingdom of heaven!

I have always believed that it was for the grinding and steady-ing of men through some such age of confusion and terror, that in our Master's life and that of Ramakrishna Paramahansa, the worship of the Mother has sounded such a mighty Udbodhan. She it is who unities in Herself the extremes of experience. She shines through evil as through good. She alone is the Goal, whatever be the road..

Indians have to extend and fulfil the vision of Vivekananda. When this is done, when to his reverence and love of the past, we can add his courage and hope for the future and his allegiance to the sacredness of all knowledge, the time will not be far distant when India will take her rightful place among the nations of the world.

q

May All Our Youth Develop Such A Personality

Impact of Swamiji's Personality

- K.S. Ramaswami Sastri

Swamiji asked me, "Is Professor Sundararaman here? I have brought a letter to be delivered to him". His voice was rich and full and sounded like a bell. Well does Romain Rolland say about the voice, "He had a beautiful voice like a violoncello, grave without violent contrasts, but with deep vibrations that filled both hall and hearts. Once his audience was held he could make it sink to an intense pitch, piercing his hearers to the soul." I looked up and saw him and somehow in my boyishness and innocence (I was only fourteen years old at that time) I felt that he was a Maharaja. I took the letter which he gave and ran up to my father (Prof. K. Sundararaman) who was upstairs and told him, "A Maharaja is come and is waiting below. He gave this letter to be given to you." My father laughed and said, "Ramaswami! What a naive simple soul you are! Maharajas will not come to houses like ours". My father came down, saluted Swamiji, and took him upstairs. After a pretty long conversation with Swamiji, my father came down and said to me, "He is no doubt a Maharaja, but not a king over a small extent or area of territory. He is a king of the boundless and supreme domain of the soul".

(63)

The Sum and Substance of Swamiji's Message

- Swami Mridananda

This article is more or less a summing up or crystallisation of Swamiji's views about India expressed after his triumphant return from the West. His vast experience and observations as a Wandering Monk had left in him a profound impression about this land. With a knowledge of the West and his observations there, his memory of India's innate glory and the inherent richness of her culture became more vivid and passionate. The experience he gained as a Wandering Monk assumed greater significance, now, after his tour in the West. The following write-up is a reflection of Swamiji's definite views on India and her people.

-Editor

When Swami Vivekananda decided to return to India after four years in the Western countries, preaching *Vedanta*, an English friend asked him, "Swami, how do you like your Motherland now, after four years experience of the luxurious, glorious, powerful West?" His reply was, '**India, I loved before I came away. Now the very dust of India has become holy to me, the very air is now to me holy; it is now the holy land, the place of pilgrimage, the Tirtha!**' His views on India and her people may be told in his own words from his first speech in Colombo. "If there is any land on this earth that can lay claim to be the blessed *Punya Bhumi*, to be the land to which all souls on this earth must come to account of *Karma*, the land to which every soul that is wending its way Godward must come to attain its last home, the land where humanity has attained its highest towards gentleness, towards generosity, towards purity, towards calmness, above all the land of introspection and of spirituality, -it is India. Hence, have started the founders of religions from

the most ancient times, deluging the earth again and again with the pure and perennial waters of spiritual truth. Hence have proceeded the tidal waves of philosophy that have covered the earth, East or West, North or South and hence again must start the wave which is going to spiritualise the material civilisation of the world. Here is the life giving water with which must be quenched the burning fire of materialism which is burning the core of the hearts of millions, in other lands".

After his return from the West, his whole attempt was to rouse the sleeping Indian nation which had completely forgotten its glorious legacy. Throughout his triumphant tour from Ceylon in the South to the Himalayas in the North what he attempted and did was only this. He says, "Up, India, and conquer the world with your spirituality! where are the men ready to go out to every country in the world with the messages of the great sages of India? Where are the men who are ready to sacrifice everything, so that this message shall reach every corner of the world? Such heroic souls are wanted to help the spread of truth. Such heroic workers are wanted to go abroad and help to disseminate the great truths of the *Vedanta*. The world wants it; without it, the world will be destroyed... *We must go out, we must conquer the world through our spirituality and philosophy*".

In his plan of campaign, he says, "Therefore my friends, my plan is to start institutions in India, to train our young men as preachers of the truths of our Scriptures, in India and outside India. Men, men, these are wanted; everything else will be ready; but, strong, vigorous, believing young men, sincere to the backbone, are wanted". Thus he trained a batch of young men to save the world which was on the verge of destruction and the result of his endeavour is now a fact well-known.

After his stay in the Western countries for four years spreading *Vedanta* among the westerners Swamiji returned to India to rouse the Indian nation and to organise them for future work. It was on 15th January, 1897, that Swamiji touched the shores of Ceylon. The people of Ceylon had already heard about Swamiji's return early. They gave him a most befitting reception. Swamiji left Ceylon on

28th and during his stay he addressed several gatherings who had come to see him at places like Colombo, Kandy, Anuradhapura and Jaffna. And on the 26th, when he alighted from the ship at Pamban, the wonder of wonder awaited him. The Raja of Ramnad himself came to receive him with all royal paraphernalia. When the Raja prostrated at Swamiji's feet with humility and devotion, his subject-how highly emotional they had become need not be told. In his reply to the welcome address presented to him, **he emphasised the fact that the backbone of India's national life was neither politics nor military power, neither commercial supremacy nor mechanical genius, but religion and religion alone.** India alone could give this to the world and till religion was regenerated, India would never rise again. He stayed as the Raja's guest for three days and then started for the famous pilgrim centre of Rameswaram. He remembered his journey thither five years ago, when as an unknown wandering *sannyasin* he had visited the place bringing his pilgrimage through India to a close-And today thousands had assembled to give him a hearty reception, rarely given to great Maharajas. His heart swelled with gratitude. There he delivered a brilliant lecture explaining the significance of real worship and the importance of sacred *Tirthas*. *He exhorted the people to find God not in images and symbols, but in the downtrodden, the poor, the weak and in the diseased.* And in commemoration of this great event the Raja erected a monument of victory there, forty feet in height. Another grand reception was accorded in the capital city, Ramanathapura, under the leadership of the Raja. In reply to the address he said. **"This is the Motherland of philosophy, of spirituality and of ethics, of sweetness, gentleness and love. These still exist and my experience of the world leads me to stand on firm ground and make the bold statement that India is still the first and foremost of all the nations of the world in these respects. He had the conviction when he said that India was awakening from her long slumber and no power on earth could resist her any more.** The 'infinite giant' was going to stand on her own feet". Even after a lapse of ninety-two years these words stand true to this day. He describes in detail India's twin ideals-Renunciation and Sacrifice.

From there he started towards Madras, visiting places like

(65)

Paramakudi, Manamadurai, Trichinopoly, Thanjavur, Kumbakonam, Mayavaram, etc. At every place he addressed the people, arousing them to work for the Motherland and in very spirited, emotional and strong language exhorted them to be proud of their past. He reached Madras on 6th February. Castle Karnan' on the Marina had been kept ready for his stay. The procession from Egmore station to castle Kernan was the first of its kind Madras had ever seen. All classes of people joined hand in hand to give him a fitting reception. Nine days which he spent in the city of Madras was an occasion of a great festival for the citizens of Madras just like the "*Navarathri*" festival. Altogether 24 public addresses were presented five public lectures in Madras. (1) My plan of campaign, (2) The sages of India, (3) *Vedanta* in its relation to practical life, (4) The future of India, (5) The work before us, were the main themes on which he spoke. He was quite against introducing a new method in social reforms and he believed in the ideas of the ancient sages. He said he did not believe in reform but only in growth and when the reformers wanted the method of destruction he stood for construction. In India religious life forms the centre and if it gives up this and tries to develop in any other direction, that would end in total failure. So, every improvement in India required an upheaval of religion. He said he had great hopes in the young men of South India. What he attempted was to make them realise and to be proud of their ancient wisdom. He also wanted them to be engaged in some kind of work for the uplift of their Moterland. He promised them to send a brother monk to help them in their work and spread the message of Sri Ramakrishna. And after his stay in Madras, he embarked a steamer to go to Calcutta on 15th February.

Calcutta was impatiently waiting to accord him a grand reception-Being his birth-place, the citizens of Calcutta believed that they had a special claim on him and they had been planning for a big reception. The big men of all strata of society joined hands to organise the reception on February 27, 1897. At a reception arranged at Shoba Bazar, history was created. **He proclaimed for the first time that Sri Ramakrishna was an incarnation come to the world for the good of all religious and societies. He said during a lecture in a firm voice, "India must conquer the world; nothing**

less than that is my ideal. It may be very big. It may astonish many of you but it is so. We must conquer the world or die", and here it was that his famous call to the young men found expression. **"Awake, arise and stop not till the desired end is reached". "The young, the energetic, the strong, the well-built, the intellectual-for them is the task"**. And he explained clearly how to conquer the world. He spoke about the claims of *Vedanta* to be the only religion of the world, and he added that only through the ideals of renunciation-the highest ideal -it was possible to conquer death and achieve the goal of human birth.

It was during this period that he began to chalk out the future programme of the Ramakrishna Mission. Though he was surrounded by visitors all the time, he never failed to guide his brother *sannyasins* for the future programme and inspired them throughout his stay there. He gave a new interpretation to Sri Ramakrishna's teachings, stressing the importance of the service aspect. The motto of the mission, "*Atmano Mokshartham and Jagat Hitayacha*" was coined by him them and he inspired his brother monks to serve the weak and the oppressed, seeing God in them. To open the eyes instead of closing them in meditation and to see God in the lowly around and serve them. That was to be the new ideal of *sannyasa* according to him. It was a great achievement of his that he was able to convince his brother monks who hitherto believed that liberation could be attained only through *Japa* and meditation. To see God in every being and serve them should be the modern ideal of *sannyasa* and thus he could bring out religion for the emancipation of the weaker section-the poor, the ailing, the downtrodden, etc. He convinced them that their *Gurudeva* had come with this new ideal to serve the whole world and not a few of his chosen disciples. His ideas appealed to them and all of them were ready to serve the nation along the new lines. And gradually service centres were being started by them in different parts of the country. Many young men came forward to dedicate their lives in the name of Sri Ramakrishna. In 1897, on 1st May, he called a gathering of devotees and disciples of Sri Ramakrishna at the residence of Sri Balaram Babu and there they decided to start an association, of devotees called the Ramakrishna Mission. **In 1899, he started the Ramakrishna Math**

for the monastic disciples of the Master. These two organisations started by him them have now grown to a big tree with its branches spread out all over the world.

By this time, Swamiji's health showed signs of deterioration. It was due to the incessant activities without any rest during this period and the climate of Calcutta also did not suit him. According to the advice of the doctor treating him, he went to Almora on the Himalayas. On his way to Almora, he stayed for one day at Lucknow where he was given a hearty reception by the people there. At Almora also, the people had arranged for a public reception and a welcome address was presented to him. In his reply to the address he had explained the great part the Himalayas had played in the history of Hindu culture and thought and how he desired to spend his last days in the lap of the Himalayas. There also the whole day was spent in meeting visitors and discussing spiritual topics with earnest seekers. But his health gradually showed signs of improvement. There he spent nearly two and a half months and then came down to places like Bareilly, Ambala, Amritsar, etc. There also he was compelled to speak on many occasions. Suddenly, one day, his temperature rose to a high degree and to take complete rest, he went to a health resort called Dharmasala. There his health improved and there he went to Amritsar and Rawalpindi, From there he went to Srinagar in Kashmir and returned from there only in October. The Maharaja of Kashmir promised all help to Swamiji for his work and Swamiji and an idea of starting a Mission Centre there for which the Raja promised all help. During his stay with the Raja, he could convince him about the need to spread the *Vedanta* Philosophy in Western countries and in conclusion he said that even if he had to go to Hell he considered it his good fortune if that were to benefit his country. His love for his country and passion to do good to others made a great impression of the Maharaja and others very much.

On October 29, he took leave of the Raja and reached Punjab. There also he addressed big audiences in various places. It was a time when the Aryasamajists and orthodox Hindus were quarrelling about religion. Through his many speeches and advice he could bring about peace between these two sects which was highly appreciated. After visiting several places, he started towards Khetri via.

Dehradun, Delhi and Jaipur. The Raja of Khetri had just returned from a foreign tour and he had been inviting Swamiji to visit Khetri for a long time. A royal reception was arranged there to welcome Swamiji. The Raja, officers and the people offered Swamiji money also. The Raja also offered him a big amount. Swamiji handed over the money for the Math at Belur. It was the Raja of Khetri who had suggested and advised him about a visit to the West and Swamiji expressed his thanks openly during the public address for the help and encouragement he had received from the Raja. From there he reached Jodhpur and after staying there for ten days he returned to Calcutta via. Indore.

Thus he concluded his series of talks on the re-establishment of *Dharma*, applying new methods. He explained to the nation the occasions when the ancient and the modern ideas mingled and also the means to build up a future more glorious than the past. He showed them the value and significance of the culture they had inherited from their ancestors and made them proud of this ancient culture. **He emphasised the fact that Indian nationalism was to be based on the greatness of the past and new things had to be assimilated during the course of its growth. This heritage from the past was essentially religious. The main current of life was essentially religion and any attempt to take away religion was dangerous as far as Indian was concerned.** The whole country was to be organised round this spiritual ideal. The influence which religion possessed in ancient times must come back again. What he meant by religion was not the blind faith and superstitions in vogue but the principles as taught by the *srutis*. Every individual is responsible for the prosperity of the nation and as such each one was in duty bound to be careful of his behaviour.

While he was in Calcutta, he took great care to give training to the monastic disciples also. He desired that his disciples should be living models of love, renunciation and service, according to the great traditions of India. Because of his powerful personality and expert training they could view religious life and even *sannyasa* in a new light. The acceptance of the ideals of Ramakrishna by the people at large is a perpetual monument of his victory. Giving a new interpretation to *sannyasa*, he tried to gather the energies of

the monastics and channelise the same for the service of suffering humanity. Wherever and whenever there is drought or flood or any other disaster, the monks of the Mission are very particular to serve there even to this day.

In his opinion, materialism and spirituality should go hand in hand for the growth of India. India cannot shut her eyes against the material prosperity of the West. Both these aspects were two wings of a bird. So, when giving out to other nations what India possessed through spirituality, it should be prepared to accept also whatever is conducive to her healthy growth. It was a great folly on the part of India that they neglected other nations so far. And "our slavery for a thousand years is a punishment we got for this neglect. The sleeping country should be aroused. It should have the capacity to stand erect with the other nations of the world and also it must be ready to give its airsdon other nations. Then only there will be peace and prosperity for the whole world." And he tried to arouse the nation to lead such a life.

(67)

India has begun to enjoy the fruits of his labour and we may hope that all his efforts for the uplift of India will be crowned with success.

q

Whether you believe in spirituality or not, for the sake of the national life you have to get a hold on spirituality and keep to it. Then stretch the other hand out and gain all you can from other races, but everything must be subordinated to that one ideal of life: and out of that a wonderful, glorious, future India will come-I am sure it is coming - a greater India than ever was.

Impact of Swami Vivekananda on Individuals, Society, Nation and The World

- Prof. K.N. Vaswani

Swami Vivekananda championed many great causes. He was a colossus whose footprints have left an indelible impression on the sands of Time. Many, many are those that were influenced by him; many are those that still carry the Swami's message in their heart, trying to give practical expressions whenever possible; and many, not only in this country but also abroad, will continue to draw inspiration from his life and message: Prof. Vaswani's following article, while discussing the general sweep of Swamiji's impact, stresses, in particular, his influence on great stalwarts like Sadhu Vaswani, Netaji and Mahatma Gandhi.

-Editor

Tremendous has been Swami Vivekananda's impact and influence on individuals, great like Gandhi, Jawaharlal Nehru, Subhash Chandra Bose, even Lokamanya Tilak and Sadhu T.L. Vaswani and on so many others, small and unknown like myself and many others not only in India but also in other lands, as voiced and described by an eminent person, a Nobel Prize winner, Romain Rolland, in his Biography of Swami Vivekananda.

Nature of the Impact

This impact or influence has not been temporary or passing, but a lasting and continuing one. It continues even today, and will continue in the future too not only on individuals, but also on society, the nation and the wide world, for, Swami Vivekananda was the embodiment, the incarnation, the personification of certain values - true, time-tested, high and lofty, values and truths. He

exemplified them and lived in a dynamic manner and therefore made them living, come alive for all others to see, to watch, to witness in their wonderful power, and to seek to live, if inspired and moved.

Roots and Reasons

These values were the age-old, ancient eternal values and ideals of "**Tyaga and Seva', Renunciation and Service**", the vision of **Universal Brotherhood**, rooted and founded on **Universal Harmony** which he eloquently proclaimed at the World Congress of Religions in Chicago in 1893, beginning on 11th September, with the wonderful words: "Sister and Brothers of America", which moved and magnetised the men and women and magnetised the men and women in America, and concluding on 27th September there with his marvellous and moving exhortation and appeal, prophecy and prediction, saying: "On the flag of all nations will soon be written the words:" **Harmony and Peace and not Dissension**".

(68)

And for this, the world is still working through its so many International Agencies including the UNESCO, and Jawaharlal Nehru proclaimed the doctrine of "**Panchashil**", after India became free.

Vivekananda Kendra, the spiritually-oriented Service Mission, founded by Shri Eknath Ranade, who was inspired and tremendously influenced by Swami Vivekananda's dynamic personality and his vital character-building message and vision of Universal Brotherhood, observes 11th September every year as '**Universal Brotherhood Day**'-'**Vishva Bandhu Diwas**' through its branches and centres in many places all over India and even abroad.

The objective is to remind all of the vision of Swami Vivekananda, to rekindle their faith in it and enthuse them to translate it into a Reality. The vision to translate it into a Reality. The vision as expressed in Swami Vivekananda's words is : "A hundred thousand men and women, fired with the zeal of holiness, fortified with eternal Faith in the Lord, and nerved to Lion's courage by their sympathy for the poor, and the fallen and the downtrodden, will go over the length gospel of salvation, the gospel of help, the gospel

of social raising up - the gospel of equality".

The nation, the people of India, have admired and accepted this wish and vision of Swami Vivekananda as an ideal. A right step in this direction was the establishment of the **Ramakrishna Mission in May 1897** by Swami Vivekananda himself. Also, the **Vivekananda Kendra**, named after him, was founded on Vivekananda Jayanti in 1972, by Eknath Ranade, who had mobilised millions to build the Vivekananda Rock Memorial, as a source of inspiration to the people of India.

The Government of India has accepted Swami Vivekananda and his vision as something inspiring for the youth of India, the future of India, the builders of the future of India and have, therefore declared that Swami Vivekananda Jayanthi-**12th January** - be celebrated all over India as the **National Youth Day** and the whole week from 12th to 19th January as the National Youth Week. Thought this was announced in 1985, which was celebrated as the Year of the Youth all over the world, it has to continue in the coming years in India.

Many patriots, social workers, leaders of people in the field of Education, Social, Economic, Political and moral uplift including Jawaharlal Nehru, Subhash Chandra Bose and Sadhu T.L. Vaswani, have been inspired by Swami Vivekananda and have acknowledged their debt to him and spoken and written about it and about his inspiring life and message and the ancient, lofty values which he enshrined, lived and thus made them living.

Vivekananda and Sadhu Vaswani

Sadhu T.L. Vaswani (25th November 1879-16th January 1966), himself a Sage, the founder of the Mira Education movement, has written a beautiful book, **The Voice of Vivekananda**, paying rich tributes to him as eloquently as Romain Rolland, acknowledging his influence on his life and activities which themselves have influenced many more all over India and even abroad through the Sadhu Vaswani Mission's many Educational Institutions and 'Satsang Centres', including those in Singapore, Hongkong, Indonesia, America

and London.

In **The Voice of Vivekananda**, Sadhu Vaswani describes the impact on him of Swami Vivekananda thus: "Echoes of his great speech at the Parliament of Religions reached me when I was a boy, studying in the school started by Hiranand. I recall the day when I read the full text of his address: **It thrilled is**. It has been called the **"Charter of the Hindu Faith"** - the Sanatana Dharma. It delivers in words of imperishable beauty, the triple message at once of the spirit of Religion, of the gospel of the Vedas, the Upanishads, the Gita and of the soul of Bharat Varsha-the India of the Ages-ancient, yet ever new. In **The Voice of Vivekananda**, spake again the wisdom enshrined in the Gita: **"All religions are threaded upon Me as pearls upon a string"**.

(69)

"The Hindu Faith", declared Swami Vivekananda, "is yours as much as mine". As the Gita is not an exclusive scripture but includes all scriptures, so the Hindu faith excludes no religion but includes all in one wonderful unity. 'Every religion is a flower and we gather all these flowers', Vivekananda said, binding them together with the cord of Love and making them into a wonderful bouquet of worship.

The philosophy of the Gita is inspired by the idea that true life should be a synthesis of action and meditation; meditation without action is empty; action without meditation is blind. He truly acts who does his duty, 'Swadharma' renouncing desire for fruits of action, and surrendering all at the Lotus Feet of the Lord.

Sadhu Vaswani further writes: "What deep Love, what true patriotic fervour is in the following cry of Swami Vivekananda's heart. Oh, if only you knew yourselves!

"You are souls. You are gods! My child! What I want is muscles of iron and nerves of steel-inside which dwells a mind of the same material as that of which the thunderbolt is made. If the whole world stands against you, sword in hand, would you still dare to do what you think is right? If your wives and children are against you, if all your money goes, your name dies, your wealth vanishes, would you

still cling to Truth?"

And drinking deep the words of Swamiji, Sadhu Vaswani re-echoes; "What the world wants today is heroic men and street yonder and say that they possess nothing but God". "What the world wants is character. The world is in need of those whose life is one of burning love-selfless. That Love will make every word tell like a thunderbolt, Awake! Awake! The world is burning in misery. Can you sleep?" "**Character, character, is Spirituality?**".

Sadhu Vaswani who had set up a Shakti Ashram in Dehradun (Mussoorie), which was visited and blessed by Gandhi, was influenced by Swami Vivekananda's message to India's youth, and he appreciatively quotes him in his emphatic words thus: "Strength is Life. Weakness is Death. India calls for heroes! Be heroic! Stand firm like a rock! Be strong! Be brave ! Strength is the one thing needful. India calls for infinite energy, infinite zeal, infinite courage. Stand up! Be bold! Be strong! Know that Ye are the creators of your Destiny. And never forget that all your strength is within yourselves. Read what your scriptures say of the Lord-calling Him Abhaya, fearless! Dare to be Abhaya, fearless and you will be truly free. Let our youths be strong-strong first. Religion will grow out of strength."

Subhash Chandra Bose, an admirer of Swami Vivekananda and his work, wished Sadhu Vaswani to do again what Swami Vivekananda had done before in America. The Hindu, Madras, published on 9th November, 1932, Subhash Bose's letter of 5th November, 1932, released by the Associate Press of India thus: "Subhash Bose writing from the Bhawali Sanatorium to a friend in Hyderabad, Sind, conveys his deepest regards to Sadhu Vaswani and enquires when Sadhu Vaswani left for America. He has no doubt that by his exposition of Hindu culture Sadhu Vaswani would be doing a service to humanity."

Swami Vivekananda's message of service, which is the message of all sages and Rishis of India, the heart and soul of Indian culture that sees the One in All, greets the One in All and proclaims

that service of all, specially the Daridranayan, is true worship of Narayan, of God. Sadhu Vaswani had made his own and beautifully enshrined in his poem thus:

Aspiration for Service

May I become a medicine, for those who are weak and sick my Lord!

May I become a lamp for those who are in the depths of Darkness my Lord!

May I become a boat, for those who would cross the stream to the other shore my Lord !

May I become bread and a cup of water for those who in hunger and thirst wander in this world my Lord!

(70) *May I become a strain of sweet music for those who in their hearts are unhappy and in great anguish my Lord!*

May Nuri (Nom de plume of Sadhu Vaswani; Nuri, heroine of Sindhi folk, is a symbol of humility and, selfless Love) become a call of compassion and Love for those who are in great suffering and deep pain my Lord!

Vivekananda and Gandhi

Turn we to Gandhiji, another great son of Bharatmata, among the Nation-builders and heir to India's Heritage and Culture, who, like Swami Vivekananda drank deep from the fountain-source, the Ganga of the Gita and the wisdom and values enshrined in the Upanishads. The same mood of meditation came to these two great souls when they made a pilgrimage to sacred Kanyakumari. Swami Vivekananda came in 1892. The centenary of his meditation on the Rock, now called Vivekananda Rock, with a magnificent memorial on it, the Vivekananda Kendra has been celebrating through the year-long **Vivekananda Bharat Parikarma for National Regeneration and INtegration**. Gandhiji in his article, **Darshan of**

Kanyakumari after his pilgrimage in 1925, movingly wrote about the waters of the Bay of Bengal and the Arabian Sea merging in the Indian Ocean and washing reverently the feet of Bharatmata at this sacred spot.

Touched by the beauty of the blessed spot, Gandhiji wrote: "The music of the ocean waves, sweet and gentle like the strains of the Vina could only invite one to meditation." Told about Vivekananda's meditation on the Rock, Gandhiji wrote: "A good swim to the island...Vivekananda may have gone there. I felt like sitting down there and reciting the verses of the Gita. My heart was filled with the image of the teacher of the Gita."

And here are Gandhiji's wonderful, meaningful, significant, weighty words on the impact of Swami Vivekananda. Addressing the Vivekananda Society in Colombo, on November 13, 1927, Gandhiji said : "Vivekananda's is a name to conjure with. He left on India's life an indelible impress. **An Indelible Impress!**" How powerfully, prophetically, intuitively and beautifully, had Gandhiji expressed the impact of Swami Vivekananda, nay, not a mere Impact but something which is much more, deeper and more lasting, **An Idelible Impress**, which cannot be obliterated, cannot be effaced or defaced, which shall remain and remain firm and clear and continue on only on some individual or society, or some social institutions, but on 'Indian Life', the whole of Indian life, in all its branches, all its aspects, in its very depths. Yes, according to Gandhiji, Vivekananda has left on India's life an **Indelible Impress**. What a well-considered assessment! And what a fine tribute!

And Gandhiji added : "**If Vivekananda is the name of your Society, you dare not neglect the teeming millions.**"

Clearly, the impact of Swami Vivekananda, nay, the influence or "The Indelible Impress" on Gandhiji was that of Swami Vivekananda as **the champion of the teeming millions**, the Daridranarayan, the lowly and the lost, 'the poor, the fallen and the downtrodden'. And Gandhiji, as we all know, made this message of Swami Vivekananda his very own. He called them, the neglected,

forgotten ones, Harijans and changed the name of his journal, "Young India" to "Navajivan", into "Harijan". And Gandhiji said: "I recognise no God except the God that is to be found in the hearts of the millions....And I worship the God that is Truth or Truth that is God, through the service of the millions.'

While Swami Vivekananda had become a Sannyasi, wearing an ochre robe and carrying a Kamandal, Gandhi took to a 'Langoti', a loin cloth, hand-spun and hand woven, to provide a supplementary occupation to 'the teeming millions', in their huts, in their hamlets and went and made Sevagram in Wardha, his village home and when in Delhi, would prefer to live in the Bhangi colony, instead of the Birla House. The entire **Constructive Programme of Gandhiji** was inspired and aimed at the service of the teeming millions as Vivekananda would have wished.

Like Swami Vivekananda, Gandhiji lived what he held as an ideal and was large-hearted and broad, minded like Swami Vivekananda, accepting all in his embrace, whatever was good in the East and the West, in Ancient and the Modern. Gandhiji, like Swami Vivekananda, was a **Bridge builder** and believed in Universal Brotherhood. To Sri Ramakrishna, Swami Vivekananda's Guru, Gandhiji has also offered his flowers of appreciation and admiration in his foreword to a book of Sri Ramakrishna's sayings, which are full of simple wisdom.

Religion the Key-note

In his ringing tone, Vivekananda has proclaimed : "Each nation has a destiny to fulfil, each nation has a message to deliver, each nation has a mission to accomplish. Therefore, from the very start, we have to understand the mission of our race, the destiny it has to fulfil, the place it has to occupy in the march of nations, the note it has to occupy in the march of nations, the note it has to contribute to the harmony of races....." "Every nation has what might be described as a national elan and a national destiny. Political or military predominance has never been the elan of my country and take it from me it never shall be so. We have a different elan. We

are destined to garner all the spiritual values to combine them and to concentrate them, to preserve them, we may flood the world. That is the sacred role of India."

And again Swami Vivekananda has said, "In India, religious life forms the centre, the key-note of the whole music of national life...India shall rise only through a renewal and restoration of that highest spiritual consciousness, which has made India at all times, the cradle of nations, the cradle of Faith".

Vivekananda and Tilak

Gandhiji, Sadhu Vaswani and Lokamanya Tilak, the last of whom, before leaving for America, Swamiji had met in Poona, had accepted, adopted and made their own, like Swami Vivekananda, these ideas about the key role of Religion, for these were the core of the Ancient Indian Heritage and Culture and values and Swami Vivekananda had inherited and imbibed them, and it must be said to his credit that he had clearly and strongly expressed them and revived people's Faith in them, which was further reinforced by Gandhiji, Sadhu Vaswani, Lokamanya Tilak and many others.

Lokamanya Tilak, sharing Swami Vivekananda's view in respect to Religion and Religious Appeal as a powerful lever to move and magnetise, awaken, integrate and energise the people, made full use of the **Ganesh Puja Festival**, leading to its celebrations widely and on a larger, more enthusiastic scale, unifying the people and awakening them to a sense of self-respect, dignity and a pride in their past, as a people, beginning this in 1892. This year being its centenary, the same is celebrated with even greater gusto and fervour as was rightly envisaged by Tilak vindicating his wisdom and the view of Swami Vivekananda in the matter of Religion being the key-note to India's heart as a nation, moving and moulding as no other force can.

Gandhiji could sense and see this as Jawaharlal Nehru could not and did not. Nehru found the teeming millions of India responding to Gandhiji's fasts, prayers and appeals to the inner voice. So he planned for a **secular India**, while Gandhiji was wiser and more in

tune with the genius of the Indian people. Beginning with Gokhale, his political Guru, and many others and recently a historian of human civilisations, namely Toynbee, have given credit to him and his far-seeing vision.

Gandhi in Tune with Vivekananda

Gandhiji was absolutely in tune with Swami Vivekananda in the matter of Religion occupying the centre stage in India. Even in politics and economics he stressed the ethical aspect regarding man, his moral, cultural and spiritual welfare being more important than mere increase in material wealth. Wealth is not to be acquired and accumulated by sacrificing men's moral values and by exploitation and rape of Nature which Gandhiji was among the first to object and to condemn severely as early as 1908 in his first seminal book **Hind Swaraj**, published in South Africa, later banned in India. Gandhiji was among the far-seeing environmentalists, long before the modern ones, who have now realised the folly and the menace of their greedy, inhuman materialistic machine-civilisation and are violently beating their breasts about it, once again only out of fear and not out of any true spiritual recognition that "**All Life is ONE, Indivisible Whole**," which the ancient sages in India and in truth, sags in all parts of the world have realised, recognised and proclaimed and which the scientists are now recognising and accepting. **Science is now approaching and accepting the truths of Spirituality**. Even a scientific historian like Toynbee regards **Revival of Religion as the key to the crisis of Civilisation, today**, vindicating what Vivekananda proclaimed and Gandhiji in line with the sages of the East and the wise ones of the West.

q

Relevance of a Century-old Address

- Anandshankar Pandya

It is imperative that we explain to the world that our tolerance is the heritage of Hinduism, a superior peace-loving civilisation, evolved by the great rishis for the survival and enduring prosperity and peace of mankind.

It is here that we need to propagate the message of Vivekananda to Indians as well as to the world to gain back our lost respect.

Swami Vivekananda, loved and revered alike in the East and the West as the rejuvenator or mankind through the eternal truths of Hinduism, roused the Hindu nation from its deep slumber of centuries and gave it a man-making and nation-building faith and resolve.

His message inspired a generation of leaders and people of our country to give of their best, said Sri C. Rajagopalachari: "Swami Vivekananda saved Hinduism and saved India. But for him we would not have gained our freedom. We therefore owe everything to Swami Vivekananda. May his faith, his courage and his wisdom inspire us so that we may keep safe the treasure received from him."

Swamiji speaks :

"I have a message to give, let me give it to the people who appreciate it and who will work it out. Yes! The older I grow the more everything seems to me to lie in manliness. This is my new gospel.

It is a man making religion that we want. It is man making theories that we want. It is man making education all round that we want. What our country now wants is muscles of iron and nerves of steel, gigantic will which nothing can resist.

A hundred thousand men and women fired with the zeal of

holiness, fortified with eternal faith in the Lord, and nerved to lion's courage by their sympathy for the poor and the fallen and the down-trodden, will go over the length and breadth of the land, preaching the gospel of salvation, the gospel of help, the gospel of social raising up-the gospel of equality.

The fate of the nation depends upon the condition of the masses. Can you raise them? Can you give them back their lost individuality without making them loss their innate spiritual nature? Can you become westernised in your spirit of equality, freedom, working energy, and at the same time a Hindu to the very backbone in religious culture and instincts? This has to be done and we will do it. A nation in India must be a union of those whose bearts beat to the same spiritual tune.

But mark you, if you give up that spirituality, leaving it aside to go after the materialising civilisation of the West, the result will be that in three generations you will be an extinct race, because the backbone of the nation will be broken, the foundation upon which the national edifice has been built will be undermined and the result will be annihilation all around. The first work that demands our attention is, that the most wonderful truths contained in our Upanishads, in our scriptures, in our Puranas-must be brought out from the books: The nations of the West are coming to us for spiritual help. A great moral obligation rests on the some of India to fully equip themselves for the work of enlightening the world of the problems of human existence.

In religion lies the vitality of India and so long as the Hindu race does not forget the inheritance of their forefathers there is no power on earth to destory them. Ay, when a man has begun to hate himself then the last blow has come. When he has begun to be ashamed of his ancestors the end has come. Here am I proud to call myself a Hindu."

His warning :

Swami Vivekananda warned us against the disastrous consequence of making politics a means of national salvation. He foresaw that pursuit of state power would in time become a pursuit of

(73)

personal power, which ambitious politicians would place above the nation. Today politics is corrupting our society.

It is unfortunate that we are today what Vivekananda wanted us not to be—a nation led by a pack of politicians who can play with the destiny of a whole people for money and for power.

q

Worship of Man

The highest form of the worship that had been laid down by the Bhakta was the worship of man. Really, if there were to be any sort of worship, he would suggest getting a poor man, or six, or twelve, as their circumstances would permit, every day to their homes, and serving them, thinking that they day to their homes, and serving them, thinking that they were Narayanas. He had seen charity in many countries and the reason it did not succeed was that it was not done with a good spirit. "Here, take this, and go away"—that was not charity, but the expression of the pride of the heart, to gain the applause of the world, that the world might know they were becoming charitable. Hindus must know that, according to the Smritis, the giver was lower than the receiver, for the receiver was for the time being God Himself. Therefore he would suggest such a form of worship as getting some of these poor Narayanas, or blind Narayanas, and hungry Narayanas into every house every day, and giving them the worship they would give to an image, feeding them and clothing them, and the next day doing the same to what he did not condemn any form of worship, but what he went to say was that the highest form and the most necessary at present in India was this form of Narayana worship.

A Power House Called Vivekananda

— G. Anuratha

Picture a song so strong, that when struck the whole universe is shaken along. Picture a tree so timeless that its roots suck the sap of wisdom of history, and whose branches reach out in an immeasurable sweep of compassion and courage, with the declared mission of giving hope and happiness to all mankind.

Picture a person so powerful that he bears the weight of the whole world, while being a Sanyasi of such renunciation that he cares not a whit for it. Picture a personality so rich that it exhibits the very limits of all expressible emotions; a man who bleeds, sweats, smiles, speaks, roars, weeps, cares, rejoices, loves and more, much more. Picture a man who can switch to a silence so profound that even the final conflagration of the world will have to halt and freeze; and wait for his wink.

(74)

Picture a personification of the love of all mothers, the concern of all fathers, the pain of all the sufferers, the wisdom of all religions, the objectivity of all sciences, the joy of all arts, the curiosity of all children, the courage of all the hungry, the radiance of the Sun, the coolness of moon, the generosity of earth, the goodness of water; picture all these and every other superlative of every virtue that you can think of; and you get a glimpse of the father who came as a son, Swami Vivekananda, the man in God, the God in man. He roared at us to be brave enough to see through the lies that we believe we are.

"Awake, arise, and stop not till the goal is reached", he said, as a starting shot for human purpose.

Holding aloft the torch of free will, he blazed across the tracks of the world, exhorting one and all to be bold enough to look at fate in the eye, and make it blink. Indeed, to Swamiji, atheism did not as much mean lack of faith in God, as it meant lack of faith in

oneself. And how does one lift oneself? By helping others without expecting anything in return. To help others is to help oneself.

Thus, in one stroke, Swamiji made service a synonymous with salvation. Salvation for oneself, service to the world, was his doctrine.

Swamiji was Shiva himself, in human of all mankind. He was born for revitalizing Hinduism, and holding high the banner of Vedanta, he blazed like a comet across the cosmos, in a life of less than forty years.

A picture of perfect humility, he considered himself as nothing, a mere instrument in the hands of his master. Indeed what a sublime saga it was, the story of the Master and the disciple; Sri Ramakrishna and Vivekananda, like Shri Krishna and Arjuna, Sri Rama and Hanuman.

Swamiji once said, "One gracious glance of His eyes can create a hundred thousand Vivekanandas at the instant!", while talking of his master, Sri Ramakrishna. The Master who chided Swamiji, when Swamiji approached Him during His final days at Cossipore, and asked that he might be blessed with Nirvikalpa Samadhi, the highest spiritual experience.

The Master told him off saying, "Shame on you! I thought you would grow, like a huge Banyan, sheltering thousands from the scorching misery of the world. But now I see you seek your own liberation."

And grow he did, into a massive Banyan tree, a tree that has struck ever so many firm roots all over the world, growing into evermore shelters for all mankind, each in the image of the ideal of Swami Vivekananda, namely, the mission of His master, Sri Ramakrishna.

A mission that took him to every nook and corner of India, and to far countries of the world.

A mission that had all seven thousand or so people in the audience rising in thunderous applause even as he merely started

his address at the Parliament of Religions in Chicago. The mission of his master. A mission that epitomized struggle: To struggle against our internal nature that has been wired to distract us away from the goal of Self-Abidance, to a sense oriented pleasure prejudices, superstitions, exploitation, and injustices heaped by man on man. A mission that demanded discipline : Swamiji felt that much of the problems faced by India was due to the fact we had forsaken the Brahmacharya system of learning in Gurukula, where discipline, obedience and service was ingrained in students as a part of life.

However, Swamiji did not hold discipline as an end in itself. Daring too was needed. When you learn to obey, you learn to rule. For true liberty would need one to break free from the very system that watered and nurtured the thirst for liberation.

Once you have conquered yourself, you may set out to conquer the world. A mission that emphasizes education: Where education is not teaching something new rather, it is the manifestation of perfection already in man. It is the training by which the will of man is brought under control, whereby it becomes useful.

Swamiji said, "To me the very essence of education is concentration of mind, not the collection of facts. It I had to do my education all over again, and had any voice in the matter, I would not study any facts at all. I would develop the power of concentration and detachment, and then with a perfect instrument I could collect facts at will".

A mission that gave the highest status to women : Swamiji venerated the Shakti in women. He said that the best gauge of the progress of a nation was the way women were treated there. He said that his ideal of the masses living a life of Vedanta could come about only through women. For this women would have to be educated; and women would have to empower themselves. His India was the land of 'Maitreyi, Lilavati, Savitri, Mira Bai, Ahalya Bai, Rani Laxmibai of Jhansi. and Sita'. Swamiji said, "Sita is the name of India for everything that is good, pure and holy; everything that in woman we call woman".

A mission that advocated great deeds: Great deeds, done in deep devotion, on the undivided field of knowledge. Karma, done in a Bhavana of Bhakti, standing on the bedrock of Jnana.

Swamiji wanted everyone to realize that real religion is the realization of the divinity in every soul. He wanted the missionaries to have faith in, and realize the knowledge, that One God pervaded all, and go forth in the world and work armed with that conviction. There is only the self, and no other. By serving others one served oneself, and God. True discrimination arises when one sees oneself in others, and God in all. That is true Viveka. And when one has that, one is ever in joy, Ananda.

A mission that is so selfless, that it is a worthy vehicle of His Master: As Swamiji wrote to one of his devotees, "they little dream that what they love me for is Ramakrishna; leaving Him I am only a mass of foolish selfish emotions."

Who can describe the greatness of our Swamiji? What can one say except that we have been most fortunate to know of a most perfect human in Swamiji Privileged are we to have been born in the same country as Swamiji Vivekananda! Blessed are we that think of him, read of him, speak of him, hear of him! Unburdened are we of all worries for we have come to the feet of Swamiji and his Master!

May the music of Swamiji Vivekananda's voice ring forever! For that will make Sri Ramakrishna rise and dance in divine ecstasy, showering his infinite compassion and grace on the whole wide world.

q

Western World

The whole of the Western world is on a volcano which may burst tomorrow, go to pieces tomorrow. They have searched every corner of the world and have found no respite. They have drunk deep of the cup of pleasure and found it vanity. Now is the time to work so that India's spiritual ideas may penetrate deep into the West.

The Mantle that Fell on Swamiji (Buddha and Swami Vivekanand)

- Dr. M. L. Mukherjee

Gautama Buddha and Swami Vivekanand may well form a part of our discussion, the Buddha in Swamiji! For in them to we find a spiritual kinship of no mean order. One is the loud-tongued symbol of resurgence, and the other is unmistakably the decalmed message of peace !

(76)

Vivekananda seems to be the second incarnation (Avatara) of Lord Buddha, who attained in his wisdom Buddhahood (Sanskrit budh, "to know"). From the very physique of Swamiji is rayed out a kind of god-like charm, a mark of the greatest of mortals, which is expressive of grace and glory alike. In him we find the majesty of a spiritual force and an apathy towards all worldly interests. And of course, there is his loving tenderness, his 'warm droppings' for the poor and the untouchables. And placed beside the becalmed Buddha, Swamiji appears to be even today a roaring, cyclonic monk. But it is a talking point with those who know him better.

Behind the story of his birth, Maya Devi's (mother of Lord Buddha) divine dream is known to all. Similarly, behind the birth of Naren, Bhubneswari's dream, an act of Lord Shiva's bounty, is well known. In these dreams we see the seeds of two all-time greats. And then, child Naren's meditation ! His communion with the highest and his daring on seeing a Snake!

Once perched on his 'Aasana', Swamiji glimpsed a Sannyasin. The entire room was flooded with supernal light. Out of that effulgence, a luminous circle, emerged a Sannyasin, clad in saffron, Kamandalu in hand, with his face unruffled and beamed with light, yes, he made his presence felt ! Boy Narendra stared at him and was struck dumb. That majestic one sidled towards him softly, but Naren fled away out of fear. Next moment he realised his weakness. His inmost feeling was this, - he ought to have listened to that great Sannyasin. So he came

back bout missed that Divine Presence. Later in life, he confessed that he had come across a good many Sannyasins, but the face among faces, that only one, was etched in his mind for ever. May be it was an illusion, but he seemed to have been blessed with the sight of Lord Buddha!

These two were the true 'Kshatriyas', the second warrior caste among the Hindus according to the Scriptural order. Both of them were the go-getters, and they shared the qualities of extraordinary mental starch, single-mindedness of the rarest kind becoming of a "Kshatriya". Both left homes at the call of a mission and realised the ultimate truth.

Buddha left his throne, the son of a Hindu Rajah, about 2,600 yers ago, leaving behind his beautiful wife and child as well as all the comforts and luxuries of a princely life. He went out of his palace with a begging bowl in his hand and suffered all kinds of hardship and ansterity, performing penances for many long years until he attained his Buddhahood. He wanted to find a remedy for the sorrows, miseries, diseases, and death from which human beings had no escape. And having discovered that remedy he gave it unto all, so that everyone might get a glimpse of that joy and Happiness which comes through Nirvana the beatific state of that Supreme Consciousness.

So also young Naren made for Buddha Gaya along with his two companions Tarak and Kali and later on came back to Cossipore. Once the Swami said that all through his life he had been an ardent admirer of Buddha, whose heart lay with laity.

Just as Buddha attained the Truth under the banyan tree at Gaya, the Swami solved the problem of Microcosm and Macrocosm at Almora. His speech at Varanashi also stemmed from his heart :

"I am going away; but I shall never come back until I can burst on society like a bomb".

Whatever Truth the Buddha learnt, he sought to spread it across the world by setting up Buddhist monastic Society or holy orders. He framed the society's rules. And he himself practised it. Setting up of such societies and spreading the message across was a novel method of education. Salvation of the soul and welfare of the world were the

ideals of Buddhist Society. In the same way, Vivekananda, too, set up Ramkrishna Mission of Monastery by introducing certain essentials and he himself went through them. He said "Rituals are the kindergarten of religion". Thus the Mission had the same end in view,-welfare of the people at large. Of course, some differences surfaced between the two holy orders, yet, by and large, Vivekananda's address on Vedanta was this that no hope was there till a Buddha's heart surfaced again and the sacred sayings of Lord Krishna materialised into a throbbing reality on earth.

It was Vivekananda who had reiterated that in the far-spreading life of human society, the Vedantic message only could serve as the springboard of all social services. He said it at one place that if he could share the tiniest particle of Buddha's heart he would have been a blessed one indeed.

After introducing "Dharma Chakra", Buddha called upon his followers to make that "Chakra" a dynamic one. The Swami, too, was the very epitome of dynamism, the vital impetus that moves a man on and on. In doing this he followed one of the three founders of religion of the orient. He said elsewhere that Buddha was prepared to sacrifice his life even for a kid. In the same strain, Vivekananda carried a bleeding heart for the lowliest of the low. They were his gods. For these gods he wished to be born again and again. Afflicted with sorrows, he was not afflicted. A story bearing upon the case may be cited:

"I saw many great man; went on the Swami (Vivekananda) in Hrishikesh, One case that I remember was that of a man who seemed to be mad. He was coming nude down the street, with boys pursuing, and throwing stones at him. The whole man was bubbling over with laughter, while blood was streaming down his face and neck. I took him and bathed the wound, putting ashes (ashes made by burning a piece of cloth) on it, to stop the bleeding. And all the time, with peals of laughter, he told me of the fun the boys had been having, throwing stones".

The yellow-clad Sannyasin would rather go to hell thousand times in absence of that life of dedication. He would serve the poorest of the poor like that of the king of season - Spring ! Yes, that religion was his humanistic religion, man-making religion. He that works for the welfare of men is like spring in the cycle of seasons. So also Siddhartha

Gautama said "My doctrine makes no distinction between high and low, rich and poor. It is like the sky, it has room for all". And Swami Vivekananda's inmost feeling does not depart from this : "Work as though you were a stranger in this land, a sojourner; work incessantly but do not bind yourself; bondage is terrible".

The Swami was influenced also seeing Buddhist monasteries at different places and even to this day, at Belur Math, an idol of Buddha, his very favourite, his own, has been preserved. He revived thus Buddhist message being himself the very personification of Lord Buddha, They are the two inseparables, the two world-shakers. But I fail to understand why the two tallest rock-hewn Buddhas have been shelled and destroyed in Bahiyar in Central Afganistan. They blasted the Enlightened One, who once had gone to a river bank and sat for a long time beneath a sacred big tree, neither moving nor thinking, but letting the peace of the river wash over his troubled mind and to find peace! This was the Buddha, whose religion, Buddhism, is the religion of at least 332 million people of central eastern and south eastern Asia, and who lived in India 500 year before the birth of Christ. And Vivekananda ? That redoubtable Sannyasin is still a social relevance, nonpareil. For the fire-flamed image of Vivekananda still reminds us of his "O ye, take pride and say, Indians we are" His words are 'great music', to Romain Rolland, Nobel laureate, they are 'Bethoven's phrases'.

q

Bhakti

Bhakti can be likened to a triangle. The first angle was that love knew no want, the second that love knew no fear. Love for reward or service of any kind was the beggar's religion, the shopkeeper's religion, with very little of real religion in it. Let them not become beggars, because in the first place, beggary was the sign of atheism. "Foolish indeed is the man who living on the banks of the Ganga digs a God material objects. The Bhakta should be ready to stand up and say, "I do not want anything from you, Lord, but if you need anything from me I am ready to give."

Swami Vivekananda's Nationalism

- Sunil K. Sengupta

(78)

Swami Vivekananda's intense love for and sense of pride regarding his country has often been misconceived and misinterpreted. A prophet of Vedantic universalism has been presented as a national chauvinist. Not that such interpretation has always been intentional. With his encyclopaedic knowledge, Swamiji has often treated issues from different angles at different times and in different contexts. Citing an instance will be pertinent. Once after completion of a lecture while in the West, Swamiji was requested by some in the audience to repeat it for their benefit, to which he replied, 'A wonderful remark made by Josephine MacLeod throws light on this multifaceted personality of Swami Vivekananda: 'The thing that held me in Swamiji was his *unlimitedness*. I never could touch he bottom-or top-or sides. The amazing size of him!''.

Love for India

Swami Vivekananda's love for his country and people knew no bounds. All his close disciples, Eastern and Western, friends and acquaintances, have testified to this. In conversations with his closest disciples or in private gatherings, 'India' came up again and again. Often the very mention of the word India aroused such intense feeling in Swamiji that he would go on speaking for hours about his country One of Swamiji's closest American disciples, Sister Christine, recalls that in such discussions on India 'everything concerning her became of interest-became living-her people, her history, architecture, her manners and customs, her rivers, mountains, plains, her culture, her rivers, mountains, plains, her culture, her great spiritual concepts, her scriptures'. The tone and tenor of Swamiji's voice itself was enough to make listeners immediate converts to the cause of India : 'Our love for India came to birth, I think, When we first heard him say the word, "India", in that marvellous voice of his. It seems incredible that so much could have been put into one small word of five letters. Says Sister Nivedita:

'Throughout those years in which I saw him almost daily, the thought of India was to him like the air he breathed... Not a sob was heard within her shores that did not find in him a responsive echo...And none, on the contrary, was ever so possessed by the vision of her greatness.'

In his reminiscences Nagendranath Gupta, a college-mate of Swamiji's who maintained close contact with his friend till his last, observes; 'His country occupied a great deal of his thoughts and conversation. His deep spiritual experiences were the bedrock of his faith and his luminous expositions are to be found in his lectures, but his patriotism was as deep as his religion.' Josephine MacLeod, who loved to call herself a friend of Vivekananda's, recalls: 'And I like to be in India, remembering once when I asked him, "Swamiji, how can I best help you?" his answer was, "Love India".'

To Vivekananda love for India meant love for the countless downtrodden masses of her people—a love that developed during his long years of wandering as a monk throughout the length and breadth of his country. He could never forget the suffering millions of his countrymen even while living in comparative comfort in America and England under the loving care of his disciples and admirers. On being asked by an English friend how his liking for his motherland was after four years' experience of the luxurious, glorious, powerful West, Swamiji's reply was: 'India I loved before I came away. Now the very dust of India has become holy to me, the very air is now to me holy; it is now the holy land, the place of pilgrimage, the Tirtha.' Vivekananda conceived the details of his working plan for raising the downtrodden masses of his country while living abroad: "The work ! The work!" he cried. "How to begin the work in India ! The way, the means!" ...Certainly before he left America, the way, the means, and the method were clear in every detail.' Vivekananda never believed that political emancipation by itself would solve the problems of the masses of India: 'I consider that the great national sin is the neglect of the masses, and that is one of the causes of our downfall. No amount of politics would be of any avail until the masses in India are once more well educated, well fed, and well cared for.'

Constructive Patriotism

Swami Vivekananda's way of serving his nation was different.

Says Nivedita: 'He was a worker at foundations. He neither used the word 'nationality', nor proclaimed an era of "nation-making". "Man-making", he said, was his own task.' There were points of difference between his own scheme for the good of India and those preached by others. About those who sought to bring about a mere revival and restoration of the Indian past, Vivekananda states clearly: 'Like the Egyptologist's interest in Egypt, their interest in India is a purely selfish one. They would fain see again that India of their books, their studies, that a new state of things must grow-from within. So he preached only the Upanishads, and of the Upanishads it was only that one idea of strength. And he believed that strength came through education.'

National Love and Vedantic Universalism

Swamiji's stress on the immortality and oneness of all souls, irrespective of religion, caste, creed or sex, leads to the concept of Vedantic universalism. It is also the basis of all morality: 'The infinite oneness of the Soul is the eternal sanction of all morality, that you and I are not only brothers...but that you and I are really one.' Vedanta also stands for doing away with any special privilege, and this Swamiji stressed: 'I have the same God in me as you have in you. And that is what we want, no privilege in you. And that is what we want, no privilege for any one, equal changes for all'.

Politics was neither a choice nor a priority for Vivekananda: 'Before flooding India with socialistic or political ideas, first deluge the land with spiritual ideas'. His spiritual message for uplifting the downtrodden people of the country also included selfless service to suffering humanity, which, according to his guru Sri Ramakrishna, is worship of the jiva as a representative of Shiva. Service to or worship of the jiva is thus linked to the Advaitic stand on the divinity of all souls. Selfless service also calls for renunciation, another ideal preached in the Upanishads, which also Swamiji stressed. If ever any conflict arose between Swamiji's love for Advaita sadhana and service to suffering humanity, he would not hesitate to opt for the latter. One recalls his famous statement: 'I have lost all wish for my salvation...And may I be born again and again and suffer thousands of miseries, so that I may worship the only God that I may worship the only God that existing, the only God I believe in, the sum total of all souls.'

With his heart bleeding for the poor and downtrodden masses of India, Vivekananda gave a stirring call to his countrymen, especially to the youth: 'For the next fifty years this alone shall be our key-note, our great Mother India. Let all other vain gods disappear for the time from our minds. This is the only god that is awake our own race-"everywhere his hands, every where his feet, every-where his ears, he covers everything." All other gods are sleeping. What vain gods shall we go after and yet cannot worship the god that we see all round us, the Virat?...and the first gods we have to worship are our countrymen.'

Vivekananda's call was essentially the highest and loftiest Vedantic message of renunciation and service to humanity looking upon them as representatives of God. Romain Rolland paints a beautiful picture of Vivekananda delivering this address: 'I can see the Mage erect, his arm raised, like Jesus above the tomb of Lazarus in Rembrand's engraving [an allusion to Rembrand's famous engraving, *The Resurrection of Lazarus*]; with energy flowing from his gesture of command to raise the dead and bring him to life.'

Patriotism v Chauvinism

But, was Swami Vivekananda a national chauvinist? He was undoubtedly a great patriot, but his patriotism never went to the length of so clouding his vision as to make him forsake rationality and fall into the trap of fanaticism. We may recall Swamiji's perception of the nature and character of the Indian nation :

Race, religion, language, government-all these together make a nation. The elements which compose the nations of the world are indeed very few....compared to this country. Here have been the Aryan, the Dravidian, the Tartar, the Turk, the Mogul, the European-all the nations of the world, as it were, pouring their blood into this land. Of language the most wonderful conglomeration is here; of manners and customs there is more difference between two Indian races than between the European and the Eastern races.

Clearly, Vivekananda stands for a multi-ethnic, multi-religious, multi-lingual and multi-cultural Indian nation, expressing her unity through immense diversity. That Vivekananda was proud of this pluralistic cultural heritage of India is evident from Sister Nivedita's mem-

oirs of her master: 'For what, he would ask, had been the England of Elizabeth in comparison with the India of Akbar?'

Swami Vivekananda's love for India did not deter him from criticizing the various weaknesses and irrational customs and practices in her social and family structures. For instance, he was extremely critical of the existing caste divisions in Hindu society, where an individual's caste was eternally dependent on his birth, creating a great divide between the so-called privileged and under-privileged castes. It was a distorted version of the original idea of caste, or *jati*, according to which caste was determined by a person's individual propensities and qualifications, and where 'variety does not mean inequality, nor any special privilege.' The sin of 'don't touchism'-an offshoot of the distorted caste system-and lack of freedom and education for women, both of which seriously jeopardized the cause of social uplift, also came in for his sharp criticism. However, these criticisms were not in the form of condemnation, as Sister Nivedita tells us: 'He was hard on her sins...but only because he felt these faults to be his own.'

(80)

Swami Vivekananda has himself clarified his stand on more than one occasion. When the news of his grand success at the Chicago Parliament of Religions reached India, it created a great outburst of joy and national pride. Some people tried to profit from his work in the West. When Swamiji came to know of this he vehemently protested and warned that 'no political significance be ever attached falsely to any of my writings or sayings. What nonsense! Again, he said: 'God and truth are the only politics in the world, everything else is trash' (5.96). Vivekananda made his life's mission quite clear : 'I know my mission in life, and no chauvinism about me Am I any nation's slave?'

Swami Vivekananda: World Citizen

Vivekananda belonged to the entire humanity. He was a prophet of universalism: 'Everything must be sacrificed, if necessary, for that one sentiment, *universality*. Whether I live or die, whether I go back to India or not, remember this specially, that universality-perfect acceptance, not tolerance only-we preach and perform. Long before the world community conceived the idea of the League of Nations, not to speak of the United Nations, Swamiji said: 'Even in politics and sociology, problems that were only national twenty years ago can no more be

solved on national grounds only. They are assuming huge proportions, gigantic shapes. They can only be solved when looked at in the broader light of international grounds. International organisations, international combinations, international laws are the cry of the day. That shows the solidarity. Here Swamiji means Vedantic solidarity, the oneness of mankind.

Vivekananda's Vedantic universalism, however, embraces all nations, religions, sects, castes-the entire spectrum of diversities forming a symphony, as it were. Romain Rolland wonderfully sums up his genius: 'In the two words, equilibrium and synthesis, Vivekananda's constructive genius may be summed up...He was the personification of harmony of all human energy'.

Q

(81)

- a What India wants is a new electric fire to stir up a fresh vigour in the national veins.
- a The uplift of women, the awakening of the masses must come first, and then only can any real good come about for the country, for India
- a The one great lesson that the world has yet to.

The Social Horizon of Swamiji

- Dr. M. Lakshmi Kumari

Today's man with his scientific temper does not want to accept an ethical code as from the mere sanction of a personage. It is neither satisfying nor appealing. He wants to know the rationale behind his philosophy and ethics. What is the eternal truth, principle and sanction behind it all?

According to Swami Vivekananda, "without the supernatural sanction or the perception of the Superconscious there can be no ethics". Only that system which struggles to reach the Infinite can give an ideal explanation for ethics. All other systems which bind man primarily to the ephemeral and keep him limited to the scope of his small life or society cannot offer an explanation for the absolute ethical laws of mankind. It is the impersonal ideal of God alone that can provide a satisfying explanation for the dictum love your fellow-beings like yourself. Such a belief presupposes that the whole world is one. (Oneness of the universe-solidarity of all life forms the basis of this love. It naturally follows that **when I love another I love myself and if I hurt another it is me who gets really hurt!**)

The Oneness of All

"The Infinite oneness of the soul is thus the eternal sanction of all morality-that you and I are not only brothers but we are really one".... This is the rationale behind all ethics and spirituality. Recognition of this truth-the quintessence of ethics, foundation of all morality-is what all the prophets have preached at all times. This feeling of oneness is the basic note of all ethical codes. That involves a derecognition of myself as the supreme individual in my world. In other words, it recognises our non-individuality to such an extent that you become part of me and I of you. It brings home the fact that in hurting you I hurt myself, also in helping you I help myself. In being helpful and loving lies my ultimate good. There is no death for me as long as you live, nay, as long as any life in me pulsates in consonance with that in the worm. By being good, honest, sincere, loving and sympathetic I am

only being true to my essential inner nature.

When this truth is understood there is no fear of death and one discovers joy in living, sharing, and in loving. The real taste of life comes from those true moments of life when we live as a part of the universal self in others. On the contrary when we live for oneself alone it is truly death. Hence, Swamiji declares, "**They alone live who live for others; others are more dead than alive**".

What keeps man away from this truth? It is ignorance or in other words the veil of Maya. How to tear off this veil? It is very simple. Swamiji assures: Every good thought you act upon is simply tearing the veil, as it were, and the purity, Infinity, the God behind the veil manifests itself more and more.

Further extension of this awareness of his own innate divinity and the external manifestation of it in greater and greater measure is what we see in Swamiji's social ideas as well. Standing on the platform of the World Parliament of Religions in Chicago when he thrilled the entire audience with his opening words, 'Sisters and Brothers of America'. It was this Universal self in him which spoke creating an instant sympathetic echo of that Oneness in all those who heard him.

A feeling of oneness and fearless rejection of customs based on false notions formed the foundation of Swamiji's social ideas. Difference due to caste, creed, religion, sex, etc. held no social meaning for him. Even his childhood prank of smoking the hookah kept for low class people in his father's drawing room is a typical example of this universal that in his character. Later, as a parivrajaka, going round the country-mingling with people of all types-he learned to see God in a different way. He found Shiva manifested in an infinite variety of Jivas and became more fully convinced of the essential purity of the human soul and the inherent goodness and strength that lie in every human heart ready to be evoked.

Reverence for Womanhood

His strong conviction in this regard was again and again brought to the forefront in his social behaviour in the West. This was very evident in his treatment of a woman. Swamiji did not always observe the conventions of the Western code of behaviour. To quote Sister Chris-

tine, "All fine men reverence womanhood. But here was one who gave no heed to the little attentions which ordinary men paid us...When he sensed our feeling he answered our unspoken thought. 'If you were old or weak or helpless, I should help you...You are as able as I am. Why should help you? Because you are a woman? That is chivalry, and don't you see that chivalry is only sex? Don't you see what is behind all these attentions from men to women?' Strange as it may seem, with these words came a new idea of what true reverence for womanhood means. And yet, he it was, who wishing to get the blessing of the one who is called the Holy Ramakrishna, sprinkled Ganga water all the way so that the he might be purified when he appeared in her presence!" This truly sums up Swamiji's social ideas.

Manifesting the divinity within him in his behaviour he inspired others to do the same and thus set a unique seal on all his actions. Did he not see this divinity in the nautch-girl of Khetri, whereupon she, sensing his realisation of her true nature, gave up her profession, lived a life of holiness, and herself came into the Great Realisation? Thus, his social ideas belonged to a different realm altogether, after transcending the understanding of our coarse intellects. "Soham, Soham", was the eternal melody to which his being was attuned and this realisation permeated all his actions. To understand Swamiji therefore we have to get into the spirit of this universal truth and learn to manifest it in our own lives.

- Dr. M. Lakshmi Kumari.

Courtesy : Vivekananda-His Gospel of Man-making with a Garland of Tributes and a Chronicle of His Life and Times, by Swami Jyotirmayananda.

Inspiring Aphorisms of Vivekananda

Arise ! Awake ! and stop not till the goal is reached

Bless men when they revile you

Conquer yourself and the whole universe is yours

Do not merely endure, but be unattached

Eat to Him, drink to Him, sleep to Him, see Him in all

First get rid of the delusion, 'I am the body'

Give everything, and look for no return

Homogeneity, sameness is God

Incarnations like Jesus, Buddha, Ramakrishna, can give religion

Jnana Yoga tells man that he is essentially divine

Knowledge exists, man only discovers it

Look at the Ocean, and not at the wave

Man as the Atman is really free, as man he is bound

Never turn back to see the result of what you have done

Out of purity and silence comes the word of power

Perception is our only real knowledge or religion

Quarrels in religion are always over the husks

Religion without philosophy runs into superstition

See no difference between man and angel

The more our bliss is within, the more spiritual we are

Unchaste imagination is as bad as unchaste action

Vedas cannot show you Brahman, you are that already

We are human coverings over the Divine

Xian you will be when you see Christ. Look only for realisation

You are good, but be better,

Zeal with faith (Sharddha):

Have this, and everything else is bound to follow.

(83)

इस अंक में.....

स्वामी विवेकानन्द स्रोतम्		1
अपनी बात		2
Editor's Reflections	Suresh Chandra	5
हमारे आदर्श पुरुष-स्वामी विवेकानन्द	सुरेन्द्र कुमार वधवा	10
किसे दोष दूं	कविता-स्वामी विवेकानन्द	14
कमजोर बनाने वाली शिक्षा नहीं	स्वामी विवेकानन्द	16
भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का द्वंद	सरोज कुमार वर्मा	
स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग	आर.के. श्रीवास्तव	18
कर्म और उसका रहस्य	स्वामी विवेकानन्द का कैलीफोर्निया का भाषण	23
स्वामी विवेकानन्द के सांस्कृतिक		
नव जागरण में महिलाओं का योगदान	डा. श्रीमती अजित गुप्ता	27
बहुमुखी प्रतिभा के धनी		
स्वामी विवेकानन्द	डा. एम. पी. गुप्ता	32
योग के चार मार्ग	स्वामी विवेकानन्द	35
धर्म की साकार प्रतिमा :		
परमहंस रामकृष्ण	डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर'	38
हिन्दू धर्म	स्वामी विवेकानन्द	43
	19 सितम्बर 1893 का भाषण	
कुशल प्रबन्धक बनने के लिये		
स्वामी विवेकानन्द के मूलमंत्र	किशोर अग्रवाल	52

स्वामी विवेकानन्द तथा नारी सम्मान	डॉ. सतीश चन्द्र मित्तल	56
बोधकथा: क्या यह भेंट गुरु और शिष्य की है?		61
सेवक, सेवा और सेव्य	डॉ. धर्मवीर सेठी	62
भारतीय युवाओं के प्रेरणा स्रोत- स्वामी विवेकानन्द	कमल मालवीय	66
भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का द्वंद	सरोज कुमार वर्मा	69
Unselfish Work is True Renunciation	Swami Vivekanand	76
A Poem by Swami Vivekanand	Dr. M.P. Gupta	77
Vivekanand-A Pioneer of Freedom Movement	K. N. Aggarwal	78
Hinduism and Swami Vivekanand	O. P. Saxena	80
Swami Vivekananda's Concept of Indian Culture	C.S. Krishna Das & D. Vasudevan	83
Preserving Religions Diversity	Atal Behari	86
Swami Vivekanandas Impact on Americans	Radhanath Behera	97
Bactical Vedanta and Swami Vivekanada	Radhanath Behera	105
Swami Vivekanandas Messages have Greater Relevance to day	N.V. Sashadri	111
The Master As I saw Him	Sister Nireedita	119
May All our Youth Develop Such a Personality	K.S. Ramaswami Sastri	126
The Sum and Substance of Swamijis Message	Swami Nridanands	127

(84)

Impact of Swami Vivkekands in Individuals, Society, Nation and the world	Prof. K.N. Raswani	135
Relevanee of a Century old Address : Anandshaskar	Anandshankar Pandya	145
Power house called Vivekanands	G. Anurethis	148
One Poem of Swami Vivkekanands	M.P. Gupta	
The Mantte that fell on Swamiji (Buddhsand Swami Vivekanands	Dr. Mr. Mukherjee	152
Swami Vivekananda's Nationalism	Sunil K. Sengupta	156
The Social Horizon of Swamamiji	Dr. M.Lakshmi Kumari	162